ॐ श्रीपरमात्मने नमः

कल्याण

वर्ष ५२] * [अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०५, जून १९७९

चित्र-सूची

Free of charge । जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

[भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित]

रामनामका प्रभाव

होलिकाके दहनसे हतप्रभ हिरण्यकश्यपु

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्रः ॥

वर्ष ५३ | गोरखपुर, सौर आषाढ़, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०५, जून १९७९ | संख्या ६ पूर्ण संख्या ६३१

राम-नामका अद्भुत प्रभाव

रामनाम जपतां कुतो भयं
सर्वतापशमनैकभेषजम् ।
पश्य तात मम गात्रसंनिधौ
पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ॥
(प्रपन्नगीता)

(श्रीप्रह्लादजी कहते हैं)—'पिताजी ! रामनाम-जप करनेवालोंको भय कहाँ ! वह तो सभी पाप-तापोंको शमन करनेवाली एकमात्र परमौषधि है । देखिये न, मेरे शरीरके सम्पर्कमें आनेसे यह अग्नि भी (अपने स्वाभाविक-धर्म—दाहकताको छोड़कर) अब जलके समान (सर्वथा) शीतल होती जा रही है ।'

कल्याण-वाणी

कुछ समय प्रतिदिन एकान्तमें बिताओ, मौन रहो। शरीरका एकान्त और वाणीका मौन भी बहुत ही आवश्यक और लाभकारी है। एकान्त और मौन-अवस्थामें भगवान्‌का ध्यान और भगवन्नामका जप करो। मनके एकान्त और मौनके लिये साधन करो। मनमें किसी भी संकल्पका न उठना ही मनका एकान्त और मौन है। चित्त सर्वथा निर्विषय होकर केवल अचिन्त्य परमात्माके स्वरूपमें लग जाय। संसार और शरीरका कहीं मनमें पता ही न रहे।

वाणीका इतना संयम अवश्य ही कर लो जिसके बिना कार्यके अनावश्यक बातें बिल्कुल न करो, किसीकी निन्दा-चुगली न करो; भरसक किसीकी स्तुति भी न करो, अश्लील शब्दोंका उच्चारण न करो, कड़ुए शब्द न बोलो, असत्य और दूसरेका अहित करनेवाले शब्द तो कभी मुँहसे निकालो ही नहीं।

उत्तेजनासे सदा बचे रहो, धीरज कभी न छोड़ो। उत्तेजना और अधैर्यसे शारीरिक और मानसिक रोग होते हैं, जिनसे छूटना कठिन हो जाता है।

किसीका अनादर न करो, किसीसे घृणा न करो, किसीका जी न दुखाओ। स्वयं सह लो, परंतु स्वार्थवश किसीको कष्ट सहनेके लिये बाध्य कभी न करो। किसी भी अच्छे काममें लगे हुए पुरुषका दिल न तोड़ो, उसे उत्साह दिलाओ और यथासाध्य उसके अच्छे काममें सहायता दो।

गरीब, दीन, रोगी और आतुरोंमें भगवान्‌को विशेप-रूपसे देखकर उनकी सेवा करो और बड़े आदर तथा प्रेमके साथ उनसे मिलो, उन्हें अपनाओ और यथासाध्य उनके दुःख दूर करनेमें सहायता दो तथा उन्हें अपना बनाकर प्रभुके भजनमें लगा दो।

हृदयकी सरलतामें देवत्व या ऋषित्व है और कपटमें असुरत्व है। मनको सरल बनाओ। बात न बना सको तो चिन्ता नहीं। सम्भव है कपटी और वाक्-चतुर मनुष्योंकी नजरमें तुम मूर्ख समझे जाओ! अथवा लोगोंकी भ्रमपूर्ण दृष्टिसे तुम ऐहिक उन्नति न कर सको; परंतु निश्चय रक्खो, कपट-चातुरीसे अपनेको बुद्धिमान् सिद्ध करनेवालोंसे तुम निश्चय ही बहुत ऊँची स्थितिपर हो।

न अपने पापोंको छिपाओ और न पुण्योंको प्रकट करो। छिपानेसे पाप बढ़ेंगे और प्रकट करनेसे पुण्य घटेंगे। पुण्यको कपूर समझो, पात्रका मुँह खोल कर रक्खोगे तो वह उड़ जायगा। पाप बुरी वस्तु है, छिपाकर रखोगे तो अंदर-ही-अंदर जहरीली गैस पैदा करके हृदयके सम्पूर्ण शुद्ध भावोंको नष्ट कर देगा।

जीवनके एक-एक क्षणको मूल्यवान् समझो और बड़ी सावधानीके साथ प्रत्येक क्षण भगवच्चिन्तन या आत्मचिन्तन करते हुए लोकहितके कार्यमें बिताओ। तुम्हारा कोई क्षण ऐसा नहीं जाना चाहिये जिसमें तुम्हारे द्वारा किसीका अहित हो जाय। अहित वाणी और शरीरसे ही होता हो, ऐसी बात नहीं है, यदि तुम्हारे मनमें बुरा विचार आ गया तो मान लो तुम अपना और दूसरोंका अहित करनेवाले हो गये। बुरा विचार कभी मनमें न आने दो। यदि पूर्वसंस्कार-वश आ भी जाय तो उसको तुरंत निकाल बाहर कर दो। बुरे विचारको आश्रय कभी मत दो, उसकी ओरसे लापरवाह न रहो।

चित्तमें सदा सत्-संकल्प रहने चाहिये। सत्-संकल्पके लिये सत्-सङ्ग, सत्-आलोचन, सद्ग्रन्थपाठ, सद्गुरुसेवन आदिकी आवश्यकता है। जिसका चित्त सत्-संकल्पसे भरा है, वही सुखी और परोपकारी है; क्योंकि वह अपने संकल्पोंको जगत्‌में फैलाकर दूसरोंको भी सन्मार्गपर लाता है। इसलिये सभीको 'शिवसंकल्प' होना चाहिये। वेदकी प्रार्थना है—

'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।'

—'शिव'

*

'धर्मो रक्षति रक्षितः'

[धर्मकी रक्षा करनेपर धर्म भी हमारी रक्षा करता है]

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य तमिलनाडु-क्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य स्वामी श्रीचन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वतीजी महाराजके आशीर्वचन)

श्रीभगवत्पाद शंकराचार्यजीका सिद्धान्त है कि सभी जीवराशि (शनैः-शनैः) मुक्ति प्राप्त करें। लेकिन सबको मुक्ति या मोक्ष आसानीसे नहीं मिल सकता। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—**'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।'** इसका तात्पर्य है कि कई जन्म लेकर कोई जीव अपने ही कर्म-परिपाकसे चित्त-शुद्धि प्राप्त करके तदुपरान्त ब्रह्म-ध्यानमें लीन होता है। तैत्तिरीयोपनिषद्में भी—**'ॐ तद्ब्रह्म ॐ तद्वायुः'** आदिसे **'ब्रह्मैवाप्नोति'** तक शुद्ध ब्रह्मकी उपासना कर अन्तमें आत्मतत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी बात कही गयी है। ज्ञान पाते ही जीव अज्ञानरूपी आवरण या मायासे छुटकारा पा लेता है, फिर वही मोक्ष पाता है। अद्वैतसिद्धान्तमें मोक्ष पानेका तात्पर्य अज्ञानसे कल्पित जीव-ब्रह्म-भेद मिटाकर एवं मायाके चंगुलसे छुटकारा पाकर जीव-ब्रह्मका ऐक्य हो जाना ही मोक्ष है। यह किसी स्थानपर जाकर प्राप्त करनेकी वस्तु नहीं है। किंतु कहीं भी रहते हुए पूर्ण ज्ञान प्राप्त होते ही मोक्ष होता है। यह बात **'तत्रैव समवनीयन्ते'**, **'अत्र ब्रह्म समश्नुते'** इत्यादि श्रुतियोंमें निर्दिष्ट है। यही भगवान् श्रीशंकराचार्यका परम सिद्धान्त है। लेकिन इसे पानेके लिये सीढ़ियाँ होती हैं। पूर्वजन्मके अनन्त सुकृतके बिना कोई ज्ञानीके रूपमें जन्म नहीं ले सकता। इसलिये ज्ञानी बननेके पहले धार्मिक होना चाहिये।

धर्म ही प्रथम सोपान है। इसीकी, अर्थ, काम और मोक्ष—ये तीन क्रमशः सीढ़ियाँ हैं। अर्थ और काम धर्मके सहायक हैं। अधर्मके साथ अर्थ और काम नरकके हेतु बनते हैं। इसलिये मोक्षशास्त्रके प्रवर्तक, प्रचारक, प्रसारक आदि श्रीशंकराचार्यजीने धर्म-पालनपर भी उतना ही बल दिया है। अपने प्रसिद्ध प्रकरणग्रन्थ 'विवेकचूडामणि' के आरम्भमें ही वे कहते हैं कि—

जन्तूनां नरजन्मदुर्लभमतो पुंस्त्वं ततो विप्रता
तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात् परम्।
(विवेकचूडामणि २)

इस पद्यमें कहा गया है कि प्रथम तो मनुष्य-जन्म मिलना ही दुर्लभ है। उसपर भी फिर पुरुषके रूपमें जन्म लेना पुण्यका ही फल है। पुनः ब्राह्मणदेह प्राप्त करना तो और दुर्लभ है। ब्राह्मणको ही अधिकार है कि वह संन्यास लेकर मोक्ष प्राप्त कर सके। इसलिये उस ब्राह्मण-शरीरको पानेके लिये भी यह आवश्यक है कि पूर्वजन्ममें पुण्योंका संचयन करे। जब पुण्यका नाम लिया जाता है, तो वहाँ धर्मका ही प्रवेश होता है। धर्म-कर्मसे ही पुण्य मिलता है। वेदोंमें धर्मकी महिमा इस प्रकार कही गयी है कि **'धर्मेण पापमपनुदति'**, **'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्'** **'तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति।'** इसका तात्पर्य है कि धर्मसे पापका नाश होता है। धर्ममें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है। इसलिये धर्म ही सबसे बड़ा है। धर्मका अनुष्ठान करनेवालेका ही चित्त शुद्ध रहता है। **'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन'** इति। धर्मका काम यज्ञ आदि है। उनके आचरणसे **'विविदिषा'** ज्ञान पानेकी इच्छा उत्पन्न होती है। तभी विचार करके मनुष्य ज्ञानी बनेगा। अन्यत्र भी कहा गया है—**'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे'** इति। **'धर्मो जयति नाधर्मः।'** अर्थात् जो भी धर्मके मार्गपर टिका रहता है। उसकी विजय अवश्य होती है। हमारा यही आशय है कि लोगोंमें धर्मका प्रचार हो और सभी प्राणिवर्ग सुखी रहें। **'लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु।'**

मोक्ष-स्वरूप-विमर्श

(लेखक—अनन्तश्री पूज्यपाद स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

[गताङ्क सं० ५, पृष्ठ १४८ से आगे]

इस विकल्पकी शान्तिका निदानपूर्वक उपाय बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं कि यह सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेदसे शून्य ब्रह्मात्मस्वरूपके अज्ञानके कारण ही उत्पन्न है और उसके ज्ञानसे ही इसकी समाप्ति होती है; क्योंकि सर्वप्रथम केवल एकमात्र ज्ञानमय विकल्परहित शुद्ध ब्रह्म ही था—

आसीज्ज्ञानमयो ह्यर्थ एक एवाविकल्पितः ।

उस परब्रह्मकी उपादानभूता शक्ति भी उससे भिन्न वस्तु नहीं है। आगे चलकर ये शक्ति एवं शक्तिमान् अलग-अलग होकर पुरुष एवं प्रकृतिके नामसे व्यपदिष्ट हुए—

तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका ।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २४ । ४)

उन दोनोंमेंसे एकको प्रकृति कहते हैं । उसीने जगत्‌में कार्य और कारणका रूप धारण किया है। दूसरी वस्तुको, जो ज्ञानस्वरूप है, पुरुष कहते हैं ।

पुनः इस प्रकृतिसे ही तम, रज और सत्त्व—ये तीन गुण उत्पन्न हुए । इन गुणोंसे सूत्रात्मक महत्-तत्त्व और महत्-तत्त्वसे अहंकारका प्रादुर्भाव हुआ । इस अहंकारके फिर (१) वैकारिक, (२) तैजस एवं (३) तामस—ये तीन भेद हुए । इन्हींसे इन्द्रियाँ, उनकी तन्मात्राएँ और मन आदिका उत्पत्ति हुई । फिर ब्रह्माण्ड एवं समस्त विश्व-प्रपञ्चकी उत्पत्ति हुई—

यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन् ।
विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः ॥
यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुतेऽपरम् ।
आदिरन्तो यदा यस्य तत् सत्यमभिधीयते ॥
प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः ।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम् ॥
सर्गः प्रवर्तते तावत् पौर्वापर्येण नित्यशः ।
महान् गुणविसर्गार्थः स्थित्यन्तो यावदीक्षणम् ॥
विराण्मयाऽऽसाद्यमानो लोककल्पविकल्पकः ।
पञ्चत्वाय विशेषाय कल्पते भुवनैः सह ॥
अन्ने प्रलीयते मर्त्यमन्नं धानासु लीयते ।
धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रलीयते ॥
अप्सु प्रलीयते गन्ध आपश्च स्वगुणे रसे ।
लीयते ज्योतिषि रसो ज्योती रूपे प्रलीयते ॥
रूपं वायौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि चाम्बरे ।
अम्बरं शब्दतन्मात्र इन्द्रियाणि स्वयोनिषु ॥
योनिर्वैकारिके सौम्य लीयते मनसीश्वरे ।
शब्दो भूतादिमप्येति भूतादिर्महति प्रभुः ॥
स लीयते महान् स्वेषु गुणेषु गुणवत्तमः ।
तेऽव्यक्ते सम्प्रलीयन्ते तत् काले लीयतेऽव्यये ॥
कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे ।
आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २४ । १७-२७)

जिसके आदि और अन्तमें जो है, वही बीचमें भी है और वही सत्य है । विकार तो केवल व्यवहारके लिये की हुई कल्पनामात्र है । जैसे कङ्कन-कुण्डल आदि सोनेके विकार और घड़े-सकोरे आदि मिट्टीके विकार पहले सोना या मिट्टी ही थे, बादमें भी सोना या मिट्टी ही रहेंगे। अतः बीचमें भी ये सोना या मिट्टी ही हैं। पूर्ववर्ती कारण (महत्तत्त्व आदि) भी जिस परम कारणको उपादान बनाकर अपर (अहंकार आदि) कार्यवर्गकी सृष्टि करते हैं, वही उनकी अपेक्षा भी परम सत्य है । तात्पर्य यह कि जब जो जिस किसी भी कार्यके आदि और अन्तमें विद्यमान रहता है, वही सत्य है । इस प्रपञ्चका उपादान-कारण प्रकृति है, परमात्मा अधिष्ठान है और इसको प्रकट करनेवाला काल है । व्यवहार-कालकी यह त्रिविधता वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप है और मैं वही

शुद्ध ब्रह्म हूँ। जबतक परमात्माकी ईक्षणशक्ति अपना काम करती रहती है, जबतक उनकी पालन-प्रकृति बनी रहती है, तबतक जीवोंके कर्मभोगके लिये कारण-कार्यरूपसे अथवा पिता-पुत्रादिके रूपसे यह सृष्टिचक्र निरन्तर चलता रहता है।

'यह विराट् ही विविध लोकोंकी सृष्टि, स्थिति और संहारकी लीलाभूमि है। जब मैं कालरूपसे इसमें व्याप्त होता हूँ, प्रलयका संकल्प करता हूँ, तब यह भुवनोंके साथ विनाशरूप विभागके योग्य हो जाता है। उसके लीन होनेकी प्रक्रिया यह है कि प्राणियोंके शरीर अन्नमें, अन्न बीजमें, बीज भूमिमें और भूमि गन्ध-तन्मात्रामें लीन हो जाती है। गन्ध जलमें, जल अपने गुण रसमें, रस तेजमें और तेज रूपमें लीन हो जाता है। रूप वायुमें, वायु स्पर्शमें, स्पर्श आकाशमें तथा आकाश शब्दतन्मात्रामें लीन हो जाता है। इन्द्रियाँ अपने कारण देवताओंमें और अन्ततः राजस अहंकारमें समा जाती हैं। हे सौम्य! राजस अहंकार अपने नियन्ता सात्त्विक अहंकाररूप मनमें, शब्दतन्मात्रा पञ्चभूतोंके कारण तामस अहंकारमें और सारे जगत्को मोहित करनेमें समर्थ त्रिविध अहंकार महत्तत्त्वमें लीन हो जाता है। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिप्रधान महत्तत्त्व अपने कारण गुणोंमें लीन हो जाता है। गुण अव्यक्त प्रकृतिमें और प्रकृति अपने प्रेरक अविनाशी कालमें लीन हो जाती है। काल मायामय जीवमें और जीव मुझ अजन्मा आत्मामें लीन हो जाता है। आत्मा किसीमें लीन नहीं होता, वह उपाधिरहित अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है। वह जगत्की सृष्टि और लयका अधिष्ठान एवं अवधि है।'

इस प्रकार विलोम करनेसे प्रलय एवं पुनः अनुलोमादिरूपमें सृष्टि होती है। सृष्टि-प्रलयकी परम्परा अनादिकालसे चलती आ रही है। पर सत्त्वपुरुषके अन्यथाप्रसंख्यानलक्षण सांख्य-वेदान्ततत्त्वके ज्ञानसे यह भ्रम सर्वथा नष्ट हो जाता है, जैसे सूर्योदयसे अन्धकार—

'व्योम्नीवार्कोदये तमः।' (श्रीमद्भा० ११।२४।२८)

भगवान् कृष्ण भी उद्धवजीसे कहते हैं—

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च॥
छायाप्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः।
एवं देहादयो भावा यच्छन्त्यामृत्युतो भयम्॥
आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥
(श्रीमद्भा० ११।२८।४-६)

उद्धवजी! जब द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं है, तब उसमें अमुक वस्तु भली है और अमुक बुरी, अथवा इतनी भली और इतनी बुरी है—यह विचार ही कैसे उठ सकता है? विश्वकी सभी वस्तुएँ वाणीसे कही जा सकती हैं अथवा मनसे सोची जा सकती हैं। दृश्य एवं अनित्य होनेके कारण विश्वका मिथ्यात्व तो स्पष्ट ही है। परछाईं, प्रतिध्वनि और सीपी आदिमें चाँदी आदिके आभास यद्यपि हैं तो सर्वथा मिथ्या, परंतु उनके द्वारा मनुष्यके हृदयमें भय-कम्प आदिका संचार हो जाता है। वैसे ही देहादि सभी वस्तुएँ हैं तो सर्वथा मिथ्या ही, परंतु जबतक ज्ञानके द्वारा इनकी असत्यताका बोध नहीं हो जाता, इनकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो जाती, तबतक ये भी अज्ञानियोंको भयभीत करती रहती हैं। उद्धवजी! जो कुछ प्रत्यक्ष या परोक्ष वस्तु है, वह आत्मा ही है। वह सर्वशक्तिमान् भी है। जो कुछ विश्व-सृष्टि प्रतीत हो रही है, इसका वह निमित्त-कारण तो है ही, उपादानकारण भी है; अर्थात् वही विश्व बनता है और वही बनाता भी है, वही रक्षक है और रक्षित भी वही है। सर्वात्मा भगवान्के अतिरिक्त कोई पदार्थ है ही नहीं—

अविच्छिन्नचिदात्मैकः पुमानस्तीह नेतरत्।
(योगवा० ३)

(क्रमशः)

परमश्रद्धेय ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत-वचन

[धर्मसे लाभ और अधर्मसे हानि]

आज युगके प्रभाव और जड भोगमयी सभ्यताके विस्तारसे जगत्में धर्मके सम्बन्धमें बड़ी ही कुरुचि हो रही है। लोग कहने लगे हैं कि 'धर्मसे जगत्की बड़ी हानि है। धर्म और ईश्वरके कारण ही संसारमें गरीबों और दुर्बलोंपर अत्याचार हुए और हो रहे हैं।'

आज तीर्थोंमें भी काम और लोभके वशमें हुए दाम्भिक पुरुष किसी प्रकारसे प्रविष्ट होकर श्रद्धावान् यात्रियोंकी श्रद्धासे अनुचित लाभ उठा रहे हैं। जगत्में न्यूनाधिक-रूपमें दम्भी, पाखण्डी मनुष्य सदा ही रहे हैं। इस घोर कलिकालमें उनकी संख्यामें वृद्धि हुई है। पिछले दिनों जब खादीका बहुत अधिक आदर था, तब यह देखा गया था कि कितने ही मनुष्य स्वार्थसाधनके लिये ही, खादीमें श्रद्धा न रहनेपर भी खादी पहनने लगे थे। परंतु इससे खादी बदनाम नहीं की जा सकती। आज भी यदि सच्चे देश-सेवकोंमें कोई देशद्रोही मिल जाय और देश-सेवकका बाना पहनकर देशका अहित करने लगे तो इससे न तो देश-सेवा बुरी बात ठहरती है और न सच्चे देश-सेवकोंपर ही न्यायतः कोई अभियोग लग सकता है। यही न्याय धर्मके लिये भी लागू है। परंतु आज तो मानो धर्म और ईश्वरसे लोगोंका कुछ द्वेष-सा हो गया है। न्यायान्यायका विचार छोड़कर किसी भी बहाने धर्मकी और ईश्वरकी व्यर्थ निन्दा करना ही कुछ लोगोंने अपना कर्तव्य-सा मान लिया है।

विचारणीय बात यह है कि धर्मप्राण भारतकी आर्य-जातिमें आज ऐसे लोग उत्पन्न हो गये हैं, इसका एक मुख्य कारण है—भोगमयी पाश्चात्त्य संस्कृतिसे प्रभावित आज-कलकी दूषित धर्महीन शिक्षा। बचपनसे ही लड़कोंको ऐसी शिक्षा दी जाती है, जिसमें धर्मका ज्ञान तो होता ही नहीं वरं उलटे धीरे-धीरे उसमें अरुचि बढ़ने लग जाती है। यही कारण है कि जिनके पिता-पितामह संस्कृतके बहुत अच्छे विद्वान्, धर्मके ज्ञाता और धर्म-पथपर दृढ़तासे आरूढ़ थे, आज उन्हींके पुत्र-पौत्रोंको यह भी पता नहीं है कि ऋषिसेवित सनातनधर्म किसे कहते हैं। अधिकतर ऐसे ही लोग धर्म और ईश्वरके विरोधी बनते हैं। जैसे आज जंगलोंमें रहनेवाली पहाड़ी जातियोंमें धर्मका ज्ञान नहीं रहा, प्रायः इसी प्रकारकी स्थिति अधिकांश पाश्चात्त्य-शिक्षा पाये हुए लोगोंकी है। ईश्वर और धर्मके विरोधी उन भाइयोंसे मेरा नम्र निवेदन है कि आप कृपया आवेशमें न आकर गम्भीरतासे विचार करें। उन्नति और उद्धारके नामपर ईश्वर एवं धर्मके विरुद्ध आन्दोलन कर इस पवित्र आर्यभूमिको महान् संकटमें डालनेका प्रयत्न न करें। प्राचीन कालके धर्मप्रचारक और धर्मसेवी महर्षियोंके त्यागपूर्ण जीवनकी ओर ध्यान दें। वे कितने बड़े त्यागी और विरक्त थे। धर्मके लिये उन्होंने कैसे-कैसे संकट सहे थे। देश और धर्मकी रक्षाके लिये उन्होंने किस प्रकार अपने जीवन अर्पित कर रक्खे थे। वृत्रासुरके उपद्रवसे अशान्त जगत्को बचानेके लिये महर्षि दधीचिने गायोंसे शरीरका मांस चटवाकर अपनी अस्थियाँतक दे दी थीं। ऐसे अनेक उदाहरण प्राचीन इतिहासोंमें मिलेंगे। आपलोग विचार कीजिये कि धर्मका ह्रास होनेपर देश और जातिकी क्या दशा होगी! ईश्वरका आश्रय और धर्ममें प्रवृत्ति—यही दो ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनसे हम दुःखोंसे छूटकर परम सुखके अधिकारी हो सकते हैं। ईश्वरमें अविश्वास और संसारसे धर्मका लोप होनेपर हमारा जीवन पशुओंसे भी अधिक खराब हो जायगा।

जब धर्मकी मर्यादा नहीं रहेगी तो सर्वत्र पशुधर्म फैल जायगा तब उस समय पाशविक कर्मोंसे कौन किसे रोक सकेगा ? माता-पिता, गुरुजनोंकी सेवा तो दूर रही, उनकी अवहेलना और अपमान होने लगेगा। जिसके मनमें जो बात अच्छी लगेगी, उसीको सिद्धान्त बतलाया जायगा, जिसका फल इस लोक और परलोकमें कहीं भी लाभप्रद न होगा। स्वयं श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गीता १६। २३)

'जो पुरुष शास्त्रकी विधिको त्यागकर अपनी इच्छासे बर्तता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको ही प्राप्त होता है।'

ईश्वर और धर्मका शासन न रहनेके कारण अधर्मी लोग अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये पाखण्ड रचकर दुनियाको धोखा देंगे। बलवान् और अधिकारसम्पन्न लोग क्रोध और मोहके वश हो दुर्बलों और गरीबोंपर वैसे ही अत्याचार करेंगे जैसे वनके बलवान् पशु निर्बल निरपराधी पशुओंको दुःख देते हैं। नृशंसता बढ़ते-बढ़ते घोर राक्षसपन आ जायगा और निरपराध पशु-पक्षियोंकी तो बात ही क्या स्वार्थवश हुए मनुष्य ही मनुष्यको खाने लगेंगे। मान, मोह और मदमें भूले हुए अधर्मीलोग स्वार्थसिद्धिके लिये मनमाना आचरण करेंगे। बलवान्, धनी और शिक्षित कहलानेवाले मनुष्य ही ईश्वर, महात्मा, योगी समझे जायँगे। ऐसी अवस्थामें जगत् दुःखमय हो जायगा। अधर्मके कारण ही पुण्यभूमि भारतवर्ष आज घोर अशान्त, दीन और दुःखी हो रहा है। अधर्मकी वृद्धिका ही यह परिणाम है, जो आज भारतवर्षमें नित नयी महामारियाँ बढ़ रही हैं, मनुष्योंकी आयु कम हो गयी है, पशुधन नष्ट हो रहा है। भूकम्प और बाढ़ आदि दैवी प्रकोपोंसे प्राणी दुखी हो रहे हैं और अन्न-वस्त्रके बिना प्राण-त्याग कर रहे हैं। फिर अधर्मकी विशेष वृद्धि होनेपर तो दुःख और भी बढ़ जायँगे। अधर्मका फल निश्चय ही दुःख है। परंतु पालित धर्मका फल दुःख कदापि नहीं हो सकता। संसारका इतिहास देखनेसे पता लगता है कि सच्चे धर्मकी ही सदा जय हुई, क्योंकि जहाँ धर्म होता है, वहीं ईश्वरकी सहायता मिलती है। महाभारतमें गुरु द्रोणाचार्य धर्मराज युधिष्ठिरको विजयका आश्वासन देते हुए कहते हैं—

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।
(भीष्मपर्व)

'जहाँ धर्म है, वहीं ईश्वर (कृष्ण) हैं और जहाँ ईश्वर हैं, वहीं जय है।'

यह बात निश्चित है कि अन्तमें पापीकी ही पराजय होती है। रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि असुर विपुल धन-जनसे सम्पन्न थे और उनके पास युद्धके असाधारण उपकरण भी मौजूद थे; किंतु पापके कारण वे भगवान्‌के कृपापात्र मात्र वानरोंद्वारा भी परास्त हो गये। यह बात न्याययुक्त और सिद्ध है कि जो मनुष्य दुःखी, अनाथ और निर्बलोंपर अत्याचार करता है, वह अपनी उस अत्याचारमयी अनीतिके द्वारा स्वयं ही मारा जाता है; उसीका पाप उसे खा जाता है। पापका परिणाम अवश्य ही भोगना पड़ेगा, किसी कारणवश कुछ विलम्ब भले ही हो जाय। दीर्घकालके बाद मिलनेवाले फलको विमलदृष्टि न होनेके कारण हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। इसीसे हमें भ्रम हो जाता है कि पापीलोग फलते-फूलते हैं और संसारमें पापका फल नहीं मिलता। इसीसे लोग धर्मकी अवहेलना कर अधर्ममें प्रवृत्त होते हैं। पर यह सोचना चाहिये कि सभी कुपथ्योंका फल तत्काल नहीं होता। किसीका जल्दी होता है तो किसीका बीसों वर्षोंके बाद सामने आता है। निपुण वैद्य-डाक्टरोंको भी पता नहीं लगता कि इस रोगका वास्तविक निदान क्या है ? परंतु है वह अवश्य ही किसी समय किये हुए किसी पाप या कुपथ्यका परिणाम। कोई वस्तु जमीनमें तुरंत अङ्कुरित होती है,

कोई महीनों बाद होती है। किसी पेड़में हाथों-हाथ फल लगने लगते हैं तो कोई पेड़ बीसों सालके बाद फल देता है। यह निश्चय रखना चाहिये कि बीजके अनुसार फल अवश्य होगा। इसी प्रकार हमारे किये हुए कर्मोंका फल भी निस्संदेह हमें भोगना पड़ेगा। अतएव अधर्मसे सदा बचना चाहिये और धर्मपालनमें तत्पर होना चाहिये।

धर्मके आचरणसे मनुष्यमें समता, शान्ति, दया, संतोष, सरलता, साहस, निर्भयता, वीरता, धीरता, गम्भीरता, क्षमा आदि गुणोंका स्वाभाविक ही विकास होता है। धर्मरूपी तपके आचरणसे अग्निसे ईंधनकी भाँति सारे पाप और अवगुण जल जाते हैं और विषयोंसे विरति तथा ईश्वरके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है, जिससे समस्त सद्गुण उसमें अपने-आप ही प्रकट हो जाते हैं। ऐसा धर्मात्मा पुरुष किसी भी प्राणीको किंचिन्मात्र भी कष्ट नहीं पहुँचा सकता। वह सबमें ईश्वरका या अपने आत्मतत्त्वका दर्शन करता है। सर्वत्र ईश्वर अथवा आत्मतत्त्वका दर्शन करनेवाला पुरुष कैसे किसीको दुःख दे सकता है? जैसे अज्ञानी पुरुष अपने स्वार्थमें रत रहता है, वैसे ही धर्मात्मा पुरुष चींटीसे लेकर इन्द्रपर्यन्त समस्त जीवोंके हितमें रत रहता है। इसीके परिणाम-स्वरूप वह पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२। ४)

धर्मको जाननेवाले पुरुषोंद्वारा निर्बल, गरीबोंपर अत्याचार होना तथा उनके द्वारा किसीका धन-हरण होना और सताया जाना तो एक किनारे रहा, वे समझ-बूझकर एक क्षुद्र चींटी तकको भी पीड़ा नहीं पहुँचा सकते। जो जान-बूझकर किंचिन्मात्र भी किसी भी जीवको पीड़ा पहुँचाता है, उसके लिये धर्मके तत्त्वकी बात स्वयं जाननी तो दूर रही, उसने धर्मका तत्त्व जाननेवाले पुरुषोंसे कभी शिक्षा भी नहीं पायी है; क्योंकि शास्त्रोंमें अहिंसाको ही परमधर्म बतलाया गया है—

अहिंसा परमो धर्मः।

गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा। पर निंदा सम अघ न गरीसा॥
पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(मानस ७। १२०। ११, ४०)

हमलोगोंको शम, दम, यम, नियम आदि उत्तम धर्मोंका पालन करके अपने भूले हुए भाइयोंको मार्ग दिखलाना चाहिये जिससे सब लोग धर्मपर आरूढ़ हों और देश सुखी हो जाय। जिस देशमें स्वयं भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णने अवतार लिया हो और जहाँ साक्षात् श्रीभगवान्‌के मुखकमलसे निकले हुए गीता-जैसे सच्चे धर्मको बतलानेवाला ग्रन्थ विद्यमान हो, उस देशकी प्रजा अशान्ति और दुःखका भोग करे, यह बहुत ही लज्जाकी बात है। गीतामें बतलाये हुए धर्मका पालन करनेसे हम स्वयं शान्त और सुखी होकर समस्त भारतको सुखी, शान्त और स्वावलम्बी बना सकते हैं। (तत्त्व-चिन्तामणि भाग ३ से)

धर्म ही सदा-सर्वत्र सच्चा सहचर

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति॥

(मनुस्मृति ८। १७)

इस संसारमें एकमात्र धर्म ही मित्र है, जो मरनेपर भी साथ जाता है और सब (स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादि सम्पत्ति) तो शरीरके साथ ही नष्ट हो जाते हैं। (अतः इन स्त्री, पुत्रादि पदार्थोंके साथ आसक्ति रखनेकी अपेक्षा धर्मके प्रति प्रेमनिष्ठ होना श्रेयस्कर है।)

वंशी-ध्वनि

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणलालजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

मनमोहन, मुरलीधर, भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी मुरली और उसकी त्रैलोक्यमोहक ध्वनि विविध विचित्रताओंकी उद्भाविका है। कृष्णभक्तोंने उसके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी मनोहारी कल्पनाएँ की हैं। मुरली-विषयक उनकी उपमाएँ तथा उत्प्रेक्षाएँ बड़ी मार्मिक, भाव और रससे पूर्ण, चित्ताकर्षक और सजीव हैं। उस स्वाभाविक चित्रणकी गहरी छाप किसी भी भावुक हृदयपर पड़े बिना नहीं रहती। श्रीकृष्णकी दिव्य, सुमधुर वंशी-ध्वनिको सुनकर सिद्धोंतककी समाधि भंग हो जाती है—

'मेरे साँवरे जब मुरली अधर धरी, सुनि सिध-समाधि टरी।'

क्या जड़, क्या चेतन—समस्त चराचर सृष्टि पर उसका व्यापक प्रभाव होता है। चराचर जगत्की समस्त वस्तुओंमें अनुकूलधर्मका ह्रास और विपरीत धर्मका विकास देखा जाता है। यथा—वृक्षोंमें नवीन पल्लवोंका उद्भव, यमुनाजलका विपरीत दिशामें प्रवाहित होना, पवनका असंचरित (स्थिर) हो जाना, इत्यादि। भक्तशिरोमणि सूरदासजीके शब्दोंमें चित्र देखें—

चल थाके अचल टरे, सुनि आनंद उमँगि भरे।
चर-अचर गति विपरीति, सुनि बेनु कल्पित गीति॥
अति थकित भयौ समीर, उलट्यौ जु जमुना-नीर॥'
(सूरसागर १० । १२४१)

इस वंशी-निनादपर व्रज-वनिताएँ मुग्ध हो चुकी हैं। जैसे ही वंशीकी मोहक ध्वनि उनके श्रवण-रन्ध्रोंमें गूँजती है, वैसे ही वे दिवस अथवा निशाका ध्यान न रखते हुए सुत-पति, देह-गेह आदिकी सुधि भुलाकर अनायास ही ध्वनि-दिशामें वनप्रान्तरकी ओर प्रस्थान कर देती हैं। वंशी-ध्वनिका कुछ ऐसा विचित्र तथा विशेष प्रभाव है कि प्रत्येक गोपाङ्गना यह अनुभव करती है कि मानो मुरली उसीका नाम ले-लेकर उसे अपने पास बुला रही हो। कई सहस्र व्रजगोपिकाएँ और प्रत्येकका नाम पुकारती हुई वंशीकी वह एक ही ध्वनि, जिसमें सबके लिये संदेश भी पृथक्-पृथक् है। विचित्रताकी साकार मूर्ति यह मुरली जैसा जिसको चाहती है, उसके श्रवणोंमें वैसी ही ध्वनि संचारित करती है—

राधिका-रवन वन भवन सुख देखिकै,
अधर धारि बेनु सुललित बजाई।
नाम लै लै सकल गोप-कन्यान के,
सबनि के स्रवन वह धुनि सुनाई॥
—सूरदास

यह वंशी-ध्वनि व्रज-सीमन्तिनियोंको मोहित करनेके साथ-साथ उनमें कामोद्दीपन भी करती है—

'कर गहि अधर धरी मुरली।
देखहु परमेश्वरकी लीला व्रज बनितानु की मन चुर ली।
जाकौ नाद सुनत गृह छाँड्यो प्रचुर भयो तन मदन बली॥
(परमानन्दसागर—२१५)

इतना ही नहीं, वह जड़-चेतन सभीको काममय बना देती है—

काम नगारी बाँसुरी ते दीन्है अचल चलाइ।
कामहीन तैं सब किये इक दीन्हे काम जगाइ॥
—कृष्णदास

तथा—

बेलीद्रुम चपल भए, सुनि पल्लव प्रगटि नए।
सुनि बिटप चंचल पात, अति निकट को अकुलात।
सुनि धुनि चलीं व्रजनारि, सुत-देह-गेह बिसारि॥
(सूरसागर १० । १२४१)

द्रुम-बेलियोंका चपल होना, उनमें नवीन पल्लवोंका प्रादुर्भाव एवं एक दूसरेके निकट पहुँचनेकी आकुलता-

पूर्ण अभिलाषा—ये सब क्रिया-व्यापार चराचरमें कामके उद्दीपन होनेके प्रतीक हैं। इसी प्रकार व्रजनारियोंद्वारा 'सुत-देह-गेह' विसारकर सम्मोहित हो वनकी ओर दौड़ पड़ना भी कामोद्दीपनकी अभिव्यञ्जनाका द्योतक है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी 'रामचरितमानस' बालकाण्डमें 'कामदहन'-प्रसङ्गके अन्तर्गत जड़-जगत्‌में इसी प्रकारके स्वाभाविक क्रिया-व्यापारोंके उल्लेखोंद्वारा कामदेवके व्यापक प्रभावका सजीव चित्रण किया है।

कामोद्दीपनके साथ-साथ वंशीकी यह ध्वनि गोपियोंके हृदयमें श्रीकृष्ण-विरहका संचार भी करती है—

ऐसी वंशी बाजी वनमें व्यापि रही धुनि,
महामुनिन की समाधि लागी।
रास आदि अनेक लीला-रस, भावपूरित, मूरति मुखारविंद
छवि धरैं, बिरह अगिनि तन जागी॥

—(कृष्णदास)

मुरली-ध्वनिकी इस विचित्र मोहकताका क्या कहना है, जिसने सकल चराचरसहित स्वयं अपने वादक (श्रीकृष्ण) को भी विमोहित एवं वशीभूत कर रखा है—**'मुरली मोहे कुँवर कन्हाई'** तभी तो श्रीकृष्णचन्द्र उसके आदेश-पालनमें सदा रत दिखायी पड़ते हैं। वह उन्हें नाना भाँति नचाती है। कटि-प्रदेशकी वक्रतासहित उनको एक पाँवपर खड़े रखनेको यह मुरली ही तो विवश करती है और स्वयं श्यामसुन्दरके अधररूपी शय्यापर पौढ़कर उनसे अपने चरण चपवाती है। यह वंशी उनसे त्रिभंगी मुद्राविशेषका सृजन भी कराती है। इतना सब कुछ होते हुए भी—**'मुरली तऊ गोपालहि भावति'** यह अद्भुत रस-विस्तारिणि मुरली श्रीकृष्णको अतिशय प्रिय है।

मुरली-ध्वनिकी मधुर मादकताजनित रसानुभूतिमें श्रीकृष्ण स्वयं इतने तन्मय और आत्मविभोर हो जाते हैं कि वे राधा तथा अन्य गोपियोंको अपने साथ हँसने-बोलनेतकका अवसर ही नहीं दे पाते। इससे गोपियोंके मनमें वंशीके प्रति सपत्नीक-स्पर्धा उत्पन्न हो जाती है और वे उससे ईर्ष्या एवं द्वेष रखने लगती हैं। सूरदासजीने बड़े ही सुन्दर शब्दोंमें गोपियोंकी इस ईर्ष्याका सफल चित्रण किया है। स्त्रियोचित सौतियाडाहका एक मार्मिक उदाहरण लें—

'निदरि हमैं अधरनि रस पीवति पढ़ी दूतिका भाइ।
सूरदास स्याम कुंजनि तैं प्रगटी चोरि सौति भई आइ॥'

(सूरसागर १२७४)

गोपियोंकी यह सपत्नीक स्पर्धा जब चरम सीमापर पहुँच जाती है, तब मुरलीकी यह विशेष स्थिति उन्हें असह्य लगने लगती है! वे अधीरतावश अपने जीवनधन परम प्रियतम—श्यामसुन्दरके नित्य सांनिध्यसे उसे सदाके लिये हटा देनेके प्रयासमें मुरलीको चुराकर छिपानेकी चेष्टा करने लगती हैं—**'सखी! मुरली लीजै चोरि;'** क्योंकि न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी।

राधावल्लभसम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु हितहरिवंश-जीने तो उस लोकोत्तर वंशी-ध्वनिकी नितान्त अभिनव विचित्रताका उद्घाटन किया है। उनकी दृष्टिमें मुरली-नाद काम-ताप-नाशक और राधा-मानमोहक है। जब कि अन्य भक्तोंकी दृष्टिमें वह काम और विरहका उद्दीपक है। हितहरिवंश प्रभु कहते हैं—

मोहन मदन गुपालकी बाँसुरी।
माधुरी श्रवण पुट सुनत सुनि राधिके,
करत रतिराजके तापकौ नासु री!

भक्तोंने वंशीपर आधिभौतिकत्वका भी आरोप किया है। वंशी स्वभावसे रस-स्वरूपा और समाधिदात्री शक्तिका प्रतीक है। वह भगवान्‌की दिव्य शक्तिस्वरूपा योगमाया है, जो **'अघटित घटना-पटीयसी'**—असम्भवको सम्भव और सम्भवको असम्भव करनेवाली है। श्रीकृष्ण-की यह वंशी ब्रह्म-नादकी जननी और तत्त्वदर्शिनी है। उसकी ध्वनि आगम-निगमोंकी प्राकट्यकर्त्री है—

'तब लीनी कर कमल जोगमाया-सी मुरली।
अघटित घटना चतुर बहुरि अधरासन जुरली॥
जाकी धुनि तैं अगम निगम प्रगटे बड़ नागर।
नाद ब्रह्मकी जननि मोहिनी सब सुख सागर॥'
(नन्ददास)

इसके नाद-सूत्रमें जल-थलके समस्त जीव-जन्तु मणिका रूप हो करके स्वतः ही ग्रथित हो जाते हैं। मन्मथमदन (कामदेव)के सदृश इसके प्रभावकी व्यापकता और शक्ति-सामर्थ्यको देखकर भुक्त-भोगी उन व्रजनागरियोंने सूरदासजीके शब्दोंमें उसे 'मदन-मुरलिका' नामसे ठीक ही सम्बोधित किया है—

'स्याम तुम्हारी मदन-मुरलिका नेकलीने जग मोह्यौ।
जे ते जीव-जंतु जलथल के, नाद स्वाद सब पोह्यौ॥
(सूरसागर १२७४)

अन्ततः उस दिव्य रस-निनादिनी मुरलीकी अद्भुत आकर्षण-शक्ति, दिव्य गुणों और विशिष्टताओंसे हार मानकर गोपाङ्गनाएँ कायल हो जाती हैं और उचित अवसर आनेपर उनका व्यवहार वंशीके प्रति अत्यधिक उदार बन जाता है।

वंशी-ध्वनिकी एक विशेषता है—प्रेमाभक्ति प्रदान करना। तभी तो गोपियाँ आसन-ध्यान, योग-याग, जप-तप, मोक्षादि उत्तम कोटिके साधनोंका परित्यागकर बस उस मुरली-नादसे ही प्रेम करती हैं और उसे सब प्रकारसे अपना हितैषी समझकर उसकी दासीतक बननेके लिये उद्यत हो जाती हैं। इसीलिये वे कहती हैं—

'हौं तो या बेनऊ की चेरी।
....
राति दिवस मन उहाँही रहत है बाढ़ी प्रीति घनेरी॥'
(परमानन्दसागर २२१)

यह दिव्य मुरली-निनाद मनकी चञ्चल-वृत्तियोंका शमनकारक और लौकिक-वैदिक मर्यादाओंसे सहज मुक्ति-प्रदायक है। जबतक वंशी-निनादने श्रवण-रन्ध्र-मार्गसे प्रवाहित होकर गोपियोंके अन्तस्तलमें प्रवेश नहीं किया तभीतक उनके मनमें स्वाभिमान, रूप-गर्व, पातिव्रत, कुलकानि, लोक-लाज आदिकी स्वाभाविक भावनाएँ बनी रहीं, तभीतक उन्होंने बुद्धि-बल, संकोच, सयानप (चातुर्य) आदिका प्रदर्शन किया। किंतु जैसे ही वंशी-रव उनके श्रवणोंमें प्रविष्ट हुआ, वैसे ही उनके ये सारे क्रिया-व्यापार विपरीत होते दिखायी पड़े। महान् भक्त और भावुक कवि-हृदय सूरदासजीने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सूरसागरमें इसका चित्रण इस प्रकार किया है—

'मुरली स्याम अनूप बजाई, विधि मर्याद सबनि भुलाई।
निसि बन को युवती सब धाईं, उलटि अंग आभूषण ठाईं॥
कोउ चरन हार लपटाई, काहू चौकी भुजन बनाई।
अँगिया कटि लहँगा उर लाई, यह सोभा बरनि न जाई॥'

तथा—

'जब ते बंसी स्रवन परी।
तबहीं तैं मन और भयो सखि, मो तन-सुधि बिसरी।
हौं अपने अभिमान, रूप, जौवनकें गर्व भरी॥
नैंकु न कह्यौ कियौ सुनि सजनी, बादिहि आइ डरी।
बिनु देखैं अब स्याम मनोहर, जुग भरि जात घरी।
सूरदास सुनु आरज-पथ तैं कछू न चाड़ सरी॥
(सूरसागर १२६९)

आशय यह है कि गोपियोंकी जो वृत्तियाँ संसारमें रमण कर रही थीं, मुरली-नादको सुनते ही वे सब परमार्थकी ओर लग गयीं। साधनाकी स्थितिमें कभी-कभी साधकको ऐसा भी आभास होता है कि जैसे उसे कोई पुकार रहा है। गोपियोंको वंशीके स्वरोंसे ऐसा ही आभासित हुआ करता था और वे—'गृह-काज बिसारि'—तुरंत उस पुकारपर चल पड़ती थीं। साधनाकी तन्मयता तथा विह्वलतामें जिस प्रकार साधकको किसी वस्तु या स्वयं अपनी स्थितिका आभास (सुधि-बुधि या ज्ञान) नहीं रहता और वह अनवरत रूपसे अपनी साधनामें ही तल्लीन रहता है; कुछ उसी प्रकारकी स्थिति इन गोपियोंकी भी हो गयी थी। तभी तो उन्होंने औचित्य या अनौचित्यका कुछ भी विचार न

कर अपने पैरोंमें हार और लहँगा कण्ठप्रदेशोंमें डाल लिये थे। जो अंधकारको छोड़ प्रकाशकी ओर उन्मुख हो चुका हो अथवा जिसकी वृत्तियाँ जगत्-जंजालको भूलकर भगवद्भावमय हो गयी हों, फिर भला वहाँ इधर (संसार)की सार-सँभाल कोई कैसे कर सकेगा? परमाचारके समक्ष लोकाचारका मिथ्या प्रपञ्च टिक ही कैसे सकता है? जड़ और नित्य चेतनका साथ क्या कभी सम्भव हुआ है?

ऐसी थी नंद-नंदन भगवान् श्यामसुन्दरकी वह देव-मोहिनी वंशी, जिसकी अलौकिक ध्वनि चराचरको मोहित करने तथा जागतिक मोहको दूर करनेमें सर्वथा (पूर्ण) समर्थ थी। उसके प्राणाकर्षक स्वर जीवके चित्तका मंथनकर साधकको अंधकारसे प्रकाशकी ओर, लोकसे परलोककी ओर, जड़से चेतनकी ओर, असत्से सत्की ओर तथा साधनासे साध्यकी ओर और जाग्रत्से समाधिकी ओर ले जाकर भगवत्साक्षात्कारके अनिर्वचनीय, दिव्य सुखका लाभ करानेमें पूर्णतः सक्षम हैं। अतः वह वंशी सदा ध्येय और वन्दनीय है।

गोपी बनो

(लेखक—पूज्य श्रीरामचन्द्रजी 'डोंगरेजी' महाराज)

भक्तोंकी भगवन्मयता जब उच्चशिखरोंको छू लेती है, तब परमात्मतत्त्व उनकी इच्छाके अधीन बन जाता है। सच्चे भक्त भगवान्‌को प्रेम-बन्धनमें इस प्रकार बाँध लेते हैं कि स्वयं ईश्वर चाहकर भी उस प्रेम-बन्धनको नहीं तोड़ सकता। इसीलिये भक्त सूरदास कह सकते थे—

बाँह छुड़ाए जात हो, निबल जानिके मोहि। हिरदै ते जब जाहुगे, सबल बखानौं तोहि॥

प्रत्यक्ष दर्शनके विषयमें गोपिकाएँ इतनी अधिक आगे बढ़ गयी थीं कि श्रीकृष्णके ध्यानमें वे स्वयं स्त्रियाँ हैं, यह भाव भी भूल जाती थीं। कोई गोपाङ्गना भावमग्न-दशामें श्रीकृष्णके वियोगसे व्याकुल बनी हुई अपनी सखीसे कहने लगती—'अरी सखी, तू कृष्णको ढूँढ़नेके लिये क्या व्यर्थ इधर-उधर घूमती है? मैं ही तेरा कृष्ण हूँ।' यही कारण है कि श्रीकृष्णके विरहमें पागल बनी हुई गोपियोंको जब उद्धवने निर्गुण ब्रह्मका उपदेश देना प्रारम्भ किया तो गोपियोंने भक्तिभावमें तल्लीन होकर कहा था—'उद्धव! ज्ञानकी इन रूखी बातोंको हमसे दूर रखो। हम गाँवकी ग्वालिनोंको यह सब कुछ समझमें नहीं आती। हम तो जब 'कृष्ण-कृष्ण' कहती हैं तब उन्हें हृदयमेंसे बाहर निकलकर हमारी आँखोंके समक्ष आना ही पड़ता है।' प्रेमकी कैसी अद्भुत पराकाष्ठा है यह!

जहाँ ऐसा ऊँचा प्रेम हो, वहाँ उस परम प्रियतमको खड़े-खड़े हाजिर होना पड़ता है। सच्चे प्रेममें प्रेमीसे प्रियतम अलग रह ही नहीं सकता।

प्रभुसे मिलनेकी तीव्र आतुरता जिसके अन्तरमें उत्पन्न होती है, वही गोपी है। गोपीभावकी पराकाष्ठामें नाम और रूप सम्पूर्ण रूपसे विस्मृत हो जाते हैं। उसके मनमें 'मैं और मेरे भगवान्' बस, यही भावभरा होता है। ऐसी दिव्यभावना जब जाग्रत् होती है, तभी अनोखी आनन्द-समाधिका अनुभव होता है।

प्रभुसे मिलनेकी तीव्र आतुरताका वैसा (गोपी) भाव सम्भवतः पूर्णरूपसे जाग्रत् न हो सके, फिर भी प्रभुके मार्गमें धीरे-धीरे आगे बढ़ते जाओ। सतत रूपसे किसी भी प्रकारकी साधना—भक्ति करते जाओ··· शनैः-शनैः संयम तथा वैराग्यपूर्वक, निज आराध्यके प्रति प्रेम-तन्मयता और भक्ति-(समर्पण-)भावको बढ़ाते जाओ······तो एक दिन तुमसे मिलनेके लिये परमात्मा स्वयं सामने दौड़े चले आयँगे।

प्रभुसे मिलनेके लिये दौड़नेवाला नहीं; अपितु जिससे मिलनेके लिये स्वयं परमात्मा दौड़कर आये, वही सौभाग्यशाली है। (वस्तुतः वही गोपीभाव है।)

(भागवत-प्रसादीसे)

साधनामें दैन्यभावका महत्त्व

(नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

साधकोंके लिये एक बहुत उत्तम उपाय है— परमेश्वरके सामने आर्त होकर दीनभावसे हृदय खोलकर रोना। यह साधन एकान्तमें करनेका है। सबके सामने करनेसे लोगोंमें उद्वेग होने और साधनके दम्भरूपमें परिणत हो जानेकी आशंका रहती है। प्रातःकाल, संध्या-समय, रातको, मध्यरात्रिके बाद या उषाकालमें जब सर्वथा एकान्त मिले, तभी आसनपर बैठकर मनमें यह भावना करनी चाहिये कि 'भगवान् यहाँ मेरे सामने उपस्थित हैं, मेरी प्रत्येक बातको सुन रहे हैं और मुझे देख भी रहे हैं।' यह बात सिद्धान्त-से भी सर्वथा सत्य है कि भगवान् हर समय हर जगह हमारे सभी कामोंको देखते और हमारी प्रत्येक बातको सुनते हैं। भावना बहुत दृढ़ होनेपर, भगवान्‌का जो स्वरूप इष्ट हो, वह स्वरूप साकार रूपमें सामने दीखने लगता है एवं प्रेमकी वृद्धि होनेपर तो भगवत्कृपा-से भगवान्‌के साक्षात् दर्शन भी हो सकते हैं। अस्तु!

नियत समय और यथासाध्य नियत स्थानमें प्रति-दिन नित्यकी भाँति किसी आसन या पृथ्वीपर बैठकर भगवान्‌को अपने सामने उपस्थित समझकर दिनभरके पापोंका स्मरण कर उनके सामने अपना सारा दोष रखना चाहिये और महान् पश्चात्ताप करते हुए आर्तभावसे क्षमा तथा फिर पाप न बने, इसके लिये बलकी भिक्षा माँगनी चाहिये। हो सके तो भक्तश्रेष्ठ श्रीसूरदासजीका यह पद गाना चाहिये या इस भावसे अपनी भाषामें सच्चे हृदयसे विनय करनी चाहिये।

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
तुम सों कहा छिपी करुनामय, सब के अंतरजामी॥
जो तनु दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नोनहरामी।
भरि भरि उदर बिषयको धावत जैसे सूकर ग्रामी॥
सुनि सतसंग होत जिय आलस, विषय संग बिसरामी।
श्रीहरि चरन छाँड़ि बिमुखनकी निसिदिन करत गुलामी॥
पापी परम, अधम अपराधी, सब पतितनमें नामी।
सूरदास प्रभु अधम उधारन, सुनिये श्रीपति स्वामी॥

(सूरसागर ४८)

हे दीनबन्धो! यह पापी आपके चरणोंको छोड़कर और कहाँ जाय? आप-सरीखे अनाथनाथके सिवाय जगत्‌में ऐसा कौन है जो मुझपर दयादृष्टि करे! प्रभो! मेरे पापोंका पार नहीं है, जब मैं अपने पापोंकी ओर देखता हूँ, तब तो मुझे बड़ी निराशा होती है, करोड़ों जन्मोंमें भी उद्धारका कोई साधन नहीं दीखता, परंतु जब आपके विरदकी ओर ध्यान जाता है, तब तुरंत ही मनमें ढाढ़स आ जाता है। आपके वे वचन स्मरण होते हैं, जो आपने रणभूमिमें अपने सखा और शरणागत भक्त अर्जुनसे कहे थे—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता ९। ३०-३१, १८। ६६)

'अत्यन्त पापी भी अनन्यभावसे मुझको निरन्तर भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने अबसे आगे केवल भजन करनेका ही भलीभाँति निश्चय कर लिया है। अतएव वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और सनातन परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। हे भाई! तू सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मुझ वासुदेव श्रीकृष्णकी शरण हो जा, मैं तुझे सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर।'

कितने सबल शब्द हैं। आपके अतिरिक्त इतनी उदारता और कौन दिखा सकता है? 'ऐसो को उदार जग माहीं।' परंतु प्रभो! अनन्यभावसे भजन करना और एक मात्र आपहीकी शरण होना तो मैं नहीं जानता। मैंने तो अनन्त जन्मोंमें और अबतक अपना जीवन विषयोंकी गुलामीमें ही खोया है, मुझे तो वही प्रिय लगे हैं, मैं आपके भजनकी रीति नहीं समझता। अवश्य ही विषयोंके विषम प्रहारसे अब मेरा जी घबड़ा उठा है, हे नाथ! आप अपने ही विरदको देखकर मुझे अपनी शरणमें रखिये और ऐसा बल दीजिये, जिससे एक क्षणके लिये भी आपके मन-मोहन रूप और पावन नामकी विस्मृति न हो। हे दीनबन्धो! दीनोंपर दया करनेवाला आपके समान दूसरा कौन है?

दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ।
जासों दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ॥
सुर, नर, मुनि, असुर, नाग, साहिब तौ घनेरे।
(पै) तौ लौं जौ लौं रावरे न नेकु नयन फेरे॥
त्रिभुवन तिहुँ काल विदित, बेद बदति चारी।
आदि-अंत-मध्य राम! साहबी तिहारी॥
तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।
सुनि सुभाव-सील-सुजसु जाचन जन आयो॥
पाहन-पसु बिटप-बिहँग अपने करि लीन्हे।
महाराज दसरथके! रंक राय कीन्हे॥
तू गरीबको निवाज, हौं गरीब तेरो।
बारक कहिये कृपालु! तुलसिदास मेरो॥
(विनयपत्रिका ७८)

हे तिरस्कृत भिखारियोंके आश्रयदाता! आपको छोड़ ऐसा दूसरा कौन है, जो प्रेमसे दीनोंको छातीसे लगा ले? जिसको सारा संसार घृणाकी दृष्टिसे देखता है, घरके लोग त्याग देते हैं, कोई भी मुँहसे बोलनेवाला नहीं होता, उसको आप तुरंत गोदमें लेकर मस्तक सूँघने लगते हैं, हृदयसे लगाकर अभय कर देते हैं। रावणके भयसे व्याकुल विभीषणको आपने बड़े प्रेमसे अपने चरणोंमें रख लिया, पाण्डव-महिषी द्रौपदीके लिये आपने ही वस्त्रावतार धारण किया, गजराजकी पुकारपर आप ही पैदल दौड़े। ऐसा कौन पतित है, जो आपको पुकारनेपर भी आपकी दयादृष्टिसे वञ्चित रहा है? हे अभयदाता! मैं तो हर तरहसे आपकी शरण हूँ, आपका ही हूँ, मुझे अपनाइये प्रभो!

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मातु, गुरु-सखा तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै॥
(विनयपत्रिका ७९)

हे पतितपावन! हे आर्तत्राणपरायण! हे दया-सिन्धो! बुरा-भला जो कुछ हूँ, सो आपका हूँ, अब तो आपकी शरण आ पड़ा हूँ, हे दीनके धन! हे अधमके आश्रय! हे भिखारीके दाता! मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। ज्ञान-योग, तप-जप, धन-मान, विद्या-बुद्धि, पुत्र-परिवार और स्वर्ग-पाताल किसी भी वस्तुकी या पदकी इच्छा नहीं है। आपका वैकुण्ठ, आपका परम धाम और आपका मोक्षपद मुझे नहीं चाहिये। एक बातकी इच्छा है, वह यह कि आप मुझे अपने गुलामोंमें गिन लीजिये, एक बार कह दीजिये कि 'तू मेरा है।' प्रभो! गोस्वामीजीके शब्दोंमें भी आपसे इसी अभिमानकी भीख माँगता हूँ—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥
(मानस ३।१०।११)

बस, इसी अभिमानमें डूबा हुआ जगत्‌में निर्भय विचरा करूँ और जहाँ जाऊँ वहीं अपने प्रभुका कोमल करकमल सदा मस्तकपर देखूँ—

हे स्वामी ! अनन्य अवलम्बन ! हे मेरे जीवन-आधार ।
तेरी दया अहैतुकपर निर्भर कर आन पड़ा हूँ द्वार ॥
जाऊँ कहाँ जगत्‌में तेरे सिवा न शरणद है कोई ।
भटका, परख चुका सबको, कुछ मिला न अपनी पत खोई ॥
रखना दूर, किसीने मुझसे अपनी नजर नहीं जोड़ी ।
अतिहित किया, सत्य समझाया, सब मिथ्या प्रतीति तोड़ी ॥
हुआ निराश उदास, गया विश्वास जगत्‌के भोगोंका ।
प्रगट हो गया भेद सभी रमणीय विषय-सुख-रोगोंका ॥
अब तो नहीं दीखता मुझको तेरे सिवा सहारा और ।
जल-जहाजका कौआ जैसे पाता नहीं दूसरा ठौर ॥
करुणाकर ! करुणाकर सत्वर, अब तो दे मन्दिर पट खोल ।
बाँकी झाँकी नाथ ! दिखाकर तनिक सुना दे मीठे बोल ॥
गूँज उठें प्रत्येक रोममें परम मधुर वह दिव्य-स्वर ।
हृत्तन्त्री बज उठे साथ ही मिला उसीमें अपना सुर ॥
तन पुलकित हो, सुमन-जलजकी खिल जायें सारी कलियाँ ।
चरण मृदुल बन मधुप उसीमें करते रहें रंगरलियाँ ॥
हो जाऊँ उन्मत्त, भूल जाऊँ तन-मनकी सुधि सारी ।
देखूँ फिर कण-कणमें तेरी छबि नव-नीरद बन प्यारी ॥
हे स्वामिन् ! तेरा सेवक बन, तेरे बल होऊँ बलवान् ।
पाप-ताप छिप जायें, हों भयभीत, मुझे तेरा जन जान ॥

(पदरत्नाकर १४१)

इस भावकी प्रार्थना प्रतिदिन करनेसे बड़ा भारी बल मिलता है । जब साधकके मनमें यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि मैं भगवान्‌का दास हूँ, भगवान् मेरे स्वामी हैं, तब वह निर्भय हो जाता है । फिर माया-मोहकी और पाप-तापोंकी कोई शक्ति नहीं जो उसके सामने आ सके । जब पुलिसका एक साधारण सिपाही भी राज्यके सेवकके नाते राज्यके बलपर निर्भय विचरता है और चाहे जितने बड़े आदमीको धमका देता है, तब जिसने अखिल-लोकस्वामी 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः' भगवान्‌को अपने स्वामीरूपमें पा लिया है, उसके बलका क्या पार है ? ऐसा भक्त स्वयं निर्भय हो जाता है और जगत्‌के भयभीत जीवोंको भी निर्भय बना देता है । (साधन-पथ)

साधन-भक्ति

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः ।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत् ॥
एवं निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे ।
वासुदेवे भगवति यया संलभते रतिम् ॥

(श्रीमद्भा० ७ । ७ । ३२-३३)

'सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि समस्त प्राणियोंमें विराजमान हैं—ऐसी भावनासे यथाशक्ति सभी प्राणियोंकी इच्छा पूर्ण करे और हृदयसे उनका सम्मान करे । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छः शत्रुओंपर विजय प्राप्तकर जो लोग इस प्रकार भगवान्‌की साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें इस भक्तिके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अनन्य प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है ।'

रामचरितमानसमें प्रतिपादित भक्तिका स्वरूप

[गताङ्क सं० ५ पृ० सं० १६८से आगे]

(लेखक—आचार्य डॉ० श्रीउमाकान्तजी 'कपिध्वज' एम्० ए०, पी-एच्० डी०, काव्यरत्न)

'यह दुर्लभ 'भक्ति-मणि' इस संसारमें हर कहीं सुलभ है। पवित्र धर्मग्रन्थोंमें जो भगवत्-चर्चाएँ रहती हैं, वे ही तो इस मणि-प्राप्तिकी खदानें हैं। भक्तिका उद्रेक तो उन्हीं कथाओंके रसमय श्रवण, मनन, निदिध्यासन, कीर्तन, अनुशीलन आदिसे होगा । संत लोग ही उन खदानों और उनमें छिपी हुई मणियोंके बताने-दिखलानेवाले मर्मी हैं। अपना प्रयत्न इतना ही है कि अपनी ही ज्ञान-वैराग्यरूपी दोनों आँखोंके सहारे अपनी सुमतिरूपी कुदालीसे भावसहित खोदना प्रारम्भ कर दें। इससे हमें सब सुखोंकी खानि—'भक्ति-मणि' अवश्य मिल जायगी।' मानसके प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० श्रीबलदेव-प्रसाद मिश्रके ये वाक्यांश किसी भी साधकके लिये कितने प्रेरक और मननीय हैं, कोई भी विचारकर देखले।

भक्तिकी प्रधान शर्त है—'प्रभु-निर्भरता', न कि आत्म-निर्भरता। यद्यपि इसकी प्राप्तिके लिये भी गोस्वामी-जीने खोदनेके प्रभावकारी प्रयत्न और ज्ञान-वैराग्य-नयनके अस्तित्वकी आवश्यकता बतायी है; तथापि इसकी प्राप्तिके लिये पहले तो 'प्रभुकृपा'पर[1] फिर संतकृपापर[2], बल दिया है। भक्तिको कृपा-साध्य तत्त्व समझना चाहिये, न कि क्रियासाध्य! प्रभुकृपा कब होगी—इसे कोई नहीं जान सकता। संतकृपा इस संसारमें अवश्य सत्सङ्ग तथा जिज्ञासु-भावद्वारा प्राप्त की जा सकती है। अतएव सत्सङ्ग ही भक्तिको सुलभ करनेका उत्तम साधन है। मर्मी सज्जनोंका सत्सङ्ग प्राप्त हो, इसके लिये प्रयत्न किया जाय, हमारे ज्ञान और वैराग्य-नयन निर्मल होकर भक्तिके प्राप्य-स्थल देख-परख सकें, इसके लिये विशेष प्रयत्नशील रहा जाय। हमारी सुमतिरूपी कुदाली ठीकसे चल सके, इसके लिये सदा सचेष्ट रहें। हमारा सर्वोपरि प्रयत्न यह होता रहे कि हम 'प्रभुकृपा'के पात्र बनें, तभी हमें सर्वदुःखनिवारिणी, सर्वसौख्यप्रदायिनी 'भक्तिचिन्तामणि'-की उपलब्धि होगी और इस उपलब्धिके लिये जो सुयत्न करें, वही 'चतुर-शिरोमणि' हैं[3]।

तात्पर्य यह कि प्रयत्न तो ज्ञानमार्गमें भी आवश्यक है एवं भक्तिमार्गमें भी। जैसे ज्ञानमार्ग (भावसे) श्रद्धा-विश्वास आदिसे शून्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार भक्तिमार्ग भी विवेक और वैराग्यसे—ज्ञान, और विरागकी सहायतासे—शून्य नहीं हो सकता। किंतु ज्ञानमार्गका 'अहं' भ्रम होते हुए भी अत्यन्त दुस्त्यज है, जब कि भक्तिमार्गका 'अहं' प्रभुसमर्पित हो जानेसे बन्धनका कारण नहीं बन पाता। अतः ज्ञानमार्गकी अपेक्षा भक्तिमार्ग अति सुलभ और अनुकरणीय है।

परम्परासे प्राप्त भक्तोंके चार भेद[4]—ज्ञानी, जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त गोस्वामीजीको भी मान्य हैं। उन भक्तोंके लिये उन्होंने गौणी (वैधी) भक्तिका विधान बतलाया है[5]। इसके साथ ही रामचरितमानसमें

१—'राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई ॥' (मानस ७ । ११९ । ६) २—'सो बिनु संत न काहूँ पाई ॥' (मानस ७ । ११९ । ९) ३—चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥ (मानस ७ । ११९ । ५) ४—(मानस १ । २१ । ३) ५—(मानस १ । २१) (१)—ज्ञानीके लिये

नाम जीह जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी ॥

ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा ॥

"अविरलभक्ति[1]' 'अविरल प्रेमाभक्ति[2]', अनूपाभक्ति,[3] 'दृढ़-राम-भक्ति[4]', 'परमभक्ति[5]', 'अनपायिनी भक्ति[6]', 'निर्भरा-भक्ति[7]' 'अखण्डभक्ति[8]' 'विशुद्ध अविरलभक्ति[9]' 'सब सुख-खानि भक्ति'[10], 'फलरूपाभक्ति'[11], 'संजीवनी भक्ति'[12], 'आदि अनेक[13] भक्ति'-विधानोंका यथास्थान निरूपण हुआ है।

सम्प्रति, मानस-प्रतिपादित भक्तिमें एक ओर जहाँ व्यक्ति और समाज दोनोंके हितोंका सामञ्जस्य है, वहीं दूसरी ओर उसमें लोकहितकी दृष्टिसे समाजके सभी बन्धनों, मर्यादाओं, कर्तव्यों एवं सम्बन्धोंको स्वीकार किया गया है; जो सामाजिक जीवनके उन्नयनमें सक्रिय सहयोग देते हैं और जिनसे सदाचार-की रक्षा होती है। अतः मानस प्रतिपादित भक्ति लोकमङ्गलकी दिव्य भावनासे तैयार किया गया ऐसा अलौकिक रसायन है, जिसमें युग-युगतक मानवताको संजीवनी शक्ति देनेकी सामर्थ्य बनी रहेगी। मानस-सम्मत भक्तिका आश्रय आत्मकल्याण-साधनाके प्रयत्नमें अधिक सहज और सुलभ है। अतः इसे सँजोनेका उपक्रम करना चाहिये।

---

(२) जिज्ञासुके लिये—

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ॥ (मानस १। २१। २)

(३) अर्थार्थीके लिये—

साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥ (मानस १। २१। २)

(४) आर्तके लिये—

जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥ (मानस १। २१। ३)

कहा गया है।

१—'अविरल भगति बिरति बिग्याना।' (मानस ३। ९। १३, ३। १२। ५-१। ४।) २—'अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।' (मानस ३। ९। ६-१। ४) (७। ११२। ८) ३—पंथ कहत निज भगति अनूपा। (मानस ३। ११। २-१। ४) ४—'राम भगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग।' (मानस ३। ४६ (क) ५—'लीन्हेसि परम भगति बर मागी।' ६—'अनपायिनी भगति प्रभु दीन्हीं।'(मानस ४। २४। ४) ७—'भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे।' (मानस ५। २ श्लोक) ८—'भाव भगति आनंद अघाने।' (मानस—२। १०७। १। २) ९—'मति अकुंठ हरि भगति अखंडा।' (मानस ७। ६२। १। २) १०—सब सुख खानि भगति तैं मागी। (मानस ७। ८४। १-१। ४) ११—'सब कर फल हरि भगति भवानी।' (मानस—७। १२५। ३-१। २) १२—'रघुपति भगति सजीवनि मूरी।' (मानस ७। १२१। ३-१। २) १३—(१) रामभगति निरुपम निरुपाधी। (मानस ७। ११५। ३) (२)'जाचहिं भगति सकल सुख खानी।' (मानस ७। ११५। ४) (३) भगति तात अनुपम सुख मूला। (मानस ३। १५। २) (४) अस हरि भगति सुगम सुखदाई। (मानस ७। ११८। ५) (५) '……भाव भगति मनि सब सुख खानी।' (मानस ७। ११९। ७-१। २) (६) 'मुनि दुर्लभ हरि भगति……।' (मानस ७। १२६) (७) 'उपजी राम भगति दृढ़……।' (मानस ७। १२९) (८) 'श्रुति संमत हरि भक्ति……।' (मानस ७। १०० (ख) (९) 'भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी।' (मानस ७। ४४। ३) (१०) 'देहि भगति संसृति सरि तरनी।'(मानस ७। ३४। ३) (११) 'देहिं भगति रघुपति अति पावनि। त्रिबिधि ताप भव दाप नसावनि॥ (मानस ७। ३४। १) (१२) 'अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम।' (मानस ३। ३२) (१३) 'राका रजनी भगति तव……।' (मानस ३। ४२ (क)।

गीताका कर्मयोग—१२

[श्रीमद्भगवद्गीताके तृतीय अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क ५, पृष्ठ-संख्या १६५ से आगे]

सम्बन्ध—

अर्जुनके प्रश्नका उत्तर भगवान्‌ने 'ज्यायः' पदके साथ पिछले श्लोकोंमें दिया है। अब उसकी पुष्टि करते हुए 'बन्धनके भयसे भी कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं है।' इस भावको स्पष्ट करते हैं।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

(गीता ३। ९)

यज्ञ (कर्तव्यपालन) के लिये किये जानेवाले कर्म बन्धनकारक नहीं होते हैं। किंतु यज्ञार्थ कर्मके अतिरिक्त अपने सुख, आराम, मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा आदिके लिये जो कर्म किये जाते हैं, उन्हीं कर्मोंसे मनुष्य-समुदाय बँधता है। इसलिये हे कुन्तीनन्दन! तू आसक्तिसे रहित होकर केवल यज्ञ (कर्तव्य) कर्म कर—परम्पराको सुरक्षित रखनेके लिये ही कर्मका भलीभाँति आचरण कर।

अन्वय—

यज्ञार्थात्, कर्मणः, अन्यत्र, अयम्, लोकः, कर्मबन्धनः, कौन्तेय, मुक्तसङ्गः, तदर्थम्, कर्म, समाचर॥ ९॥

पद-व्याख्या—

यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र—यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अन्यत्र (दूसरे) कर्मोंमें लगा हुआ।

श्रीमद्भगवद्गीताके कथनानुसार कर्तव्यमात्रका नाम 'यज्ञ' है। यज्ञके अन्तर्गत यज्ञ, दान, तप, होम, तीर्थ-सेवन व्रत और वेदाध्ययन आदि समस्त शारीरिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक क्रियाएँ आ जाती हैं। कर्तव्य मानकर किये जानेवाले व्यापार, नौकरी, दलाली, अध्ययन और अध्यापन आदि सभी कर्मोंका नाम भी यज्ञ है। दूसरोंको सुख पहुँचाने तथा उनका हित करनेके लिये जो भी कर्म किये जाते हैं, वे सभी यज्ञार्थ कर्म हैं। यज्ञार्थ कर्म करनेसे आसक्ति बहुत शीघ्र समाप्त हो जाती है तथा उसके सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं (गीता ४। २३) अर्थात् वे कर्म स्वयं तो बन्धनकारक होते नहीं, अपितु पूर्वसाधित कर्मसमूहको भी समाप्त कर देते हैं।

मनुष्यकी स्थिति उसके 'उद्देश्य'के अनुसार होती है, क्रियाके अनुसार नहीं। जैसे व्यापार धनके अनुसार ही बढ़िया और घटिया माना जाता है (अधिक धन आता हो तो बढ़िया, अन्यथा घटिया)। व्यापारीका प्रधान (दृष्टि-कोण) धन रहता है। अतः दुकान बंद करते ही उसकी दृष्टि पैसोंपर चली जाती है। ऐसे ही यज्ञार्थ कर्म करते समय कर्मयोगीकी स्थिति अपने उद्देश्य (परमात्मा)में ही रहती है। इसलिये भगवान् यहाँ यज्ञके निमित्त ही कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं।

सभी वर्णोंके लिये कर्म पृथक्-पृथक् हैं। अतः एक वर्णके लिये कोई कर्म स्वकर्म है तो वही दूसरे वर्णोंके लिये (वर्जित होनेसे) पर कर्म हो जाता है। जैसे क्षत्रियका भिक्षासे जीवन-यापन करना परकीय कर्म है। इसी प्रकार मनुष्यका निष्कामभावसे कर्तव्य (पालन) कर्म करना स्वधर्म है, इसके अतिरिक्त जितने सकाम कर्म हैं, वे सब-के-सब अन्यत्र कर्मकी श्रेणीमें ही हैं। अपने सुख, मान, बड़ाई और आराम आदिके लिये जितने कर्म किये जायँ, वे सब-के-सब भी अन्यत्र कर्म हैं। अतएव छोटा-से-छोटा तथा बड़ा-से-बड़ा जो भी कर्म किया जाय,

*

उसमें साधकको सावधान रहना चाहिये कि कहीं किसी स्वार्थको लेकर तो कर्म नहीं हो रहा है, साधनके विपरीत कहीं असाधन तो नहीं हो रहा है ? साधक उसीको कहते हैं जो प्रतिक्षण सावधान रहता है। (अपनी साधनाके प्रति सतर्क, जागरूक रहना ही चाहिये ।)

अन्यत्र कर्मके विषयमें दो गुप्त भाव—

(१) किसीके आनेपर यदि कोई मनुष्य उसके प्रति 'आइये, बैठिये' आदि (समता-)आदर-सूचक शब्द-का प्रयोग करता है और अपनेमें सज्जनताका आरोप करता है अथवा ऐसा करनेसे आनेवालेपर मेरा अच्छा असर पड़ेगा'—इस भावसे कहता है तो इसमें स्वार्थकी भावना छिपी रहनेसे यह 'अन्यत्र कर्म' ही है 'यज्ञार्थ कर्म' नहीं ।

(२) सत्सङ्ग तथा सभा आदिमें कोई व्यक्ति मनमें इस भावको रखते हुए प्रश्न पूछता है कि वक्ता एवं श्रोतागण मुझे अच्छा जानकार समझेंगे तथा उनपर मेरा अच्छा असर पड़ेगा तो यह 'अन्यत्र कर्म' ही है, 'यज्ञार्थ कर्म' नहीं ।

तात्पर्य यह है कि शरीर, नाम, जाति, वर्ण और आश्रम आदिमें अहंता एवं ममता रखते हुए अपने लिये कर्म करना 'अन्यत्र कर्म' है जो बाँधनेवाले होते हैं।

साधकको भोग और ऐश्वर्य मिलनेकी बुद्धिसे कोई भी कर्म नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसी बुद्धिमें भोगासक्ति और कामना रहती है, जिससे कर्मयोगका आचरण नहीं होता। निर्वाह-बुद्धिसे कर्म करनेपर भी जीनेकी इच्छा बनी रहती है। अतः निर्वाह-बुद्धि भी त्याज्य है। साधकको केवल साधन-बुद्धिसे ही प्रत्येक कर्म करना चाहिये। सबसे उत्तम साधक तो वह है जो अपनी मुक्तिके लिये भी कोई कर्म न करके केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्म करता है।

अयं लोकः कर्मबन्धनः—यह मनुष्य-समुदाय कर्मोंसे बँधता है।

कर्तव्यकर्म (यज्ञ) करनेका अधिकार मुख्यरूपसे मनुष्यको ही है।[1] इसका वर्णन भगवान्‌ने आगे सृष्टिचक्रके प्रसङ्ग (गीता ३ । १४—१६) में भी किया है। तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य मिले हुए अधिकार-का सदुपयोग न कर अर्थात् दूसरोंके हितके लिये कर्म न कर केवल अपने सुखके लिये कर्म करता है, तब वह बँध जाता है।

आसक्ति और स्वार्थभावसे कर्म करना ही बन्धनका कारण है। आसक्ति अर्थात् स्वार्थके न रहनेपर स्वतः ही सबके हितार्थ कर्म होते हैं। बन्धन भावसे होता है। हमारे पास जितनी भी सामग्रियाँ उपलब्ध हैं, वे सब-की-सब दूसरोंसे मिली हुई हैं, हमारी व्यक्तिगत नहीं हैं। इन्हें हम अपने साथ लाये नहीं, साथ ले जा सकते नहीं। अतः उन्हें यहीं सेवामें लगा देनी है।

कौन्तेय—(इसलिये) हे कुन्तीनन्दन !

मुक्तसङ्गः तदर्थम् कर्म समाचर—अर्थात् आसक्ति-से रहित होकर उस यज्ञके निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्यकर्म कर।

'मुक्तसङ्गः' पदसे भगवान्‌का यह तात्पर्य है कि कर्मोंमें, पदार्थोंमें तथा कर्म करनेके उपकरण—इन शरीर, मन एवं बुद्धि आदि सामग्रीमें ममता रखनेसे बन्धन होता है और कर्तव्यकर्म भी स्वाभाविक एवं भलीभाँति नहीं होते। जब ममता एवं स्वार्थ नहीं रहेंगे, तब कर्तव्य कर्मका (परहितके लिये) आचरण होगा, अन्यथा विश्राम मिलेगा। परिणामस्वरूप साधन निरन्तर होगा और असाधन कभी होगा ही नहीं।

१. जिसका उद्देश्य संसार न होकर केवल परमात्माकी प्राप्ति होता है, उसीके द्वारा कर्तव्य कर्म हुआ करते हैं।

आलस्य और प्रमादसे नियत-कर्मका त्याग करना 'तामस त्याग' है (गीता १८ । ७), जिसका फल मूढयोनियों (नरकों)की प्राप्ति है (गीता १४ । ५) । कर्मोंको दुःखरूप समझकर उनका त्याग करना 'राजसत्याग' है (गीता १८ । ८), जिसका फल दुःखोंकी प्राप्ति है (गीता १४ । १६) । इसलिये यहाँ भगवान् अर्जुनको कर्मोंको त्यागनेके लिये नहीं कहते, अपितु स्वार्थ, ममता, फलासक्ति, कामना, वासना और पक्षपात आदिसे रहित होकर शास्त्रविधिके अनुसार सुचारुरूपसे उत्साहपूर्वक कर्तव्यकर्मोंको करनेकी आज्ञा देते हैं, जो कि 'सात्त्विक त्याग' है (गीता १८ । ९) । फिर स्वयं भगवान् आगे चलकर कहते हैं कि मेरे लिये कुछ भी करना शेष नहीं है, तब भी मैं सावधानीपूर्वक कर्म करता हूँ (गीता ३ । २२-२३) ।

कर्तव्यकर्मोंका भलीभाँति आचरण करनेमें दो कारणोंसे शिथिलता आती है—(१) मनुष्यका स्वभाव है कि वह पहले फलकी कामना करके ही कर्ममें प्रवृत्त होता है । जब वह देखता है कि कर्मयोगके अनुसार फलकी कामना नहीं रखना है, तो ऐसा विचार करता है कि कर्म ही क्यों करूँ ? (२) कर्म प्रारम्भ करनेके बाद अब अन्तमें उसे पता लग जाय कि इसका फल विपरीत होगा, तब वह विचार करता है कि हम कर्म तो अच्छा-से-अच्छा करे, पर फल विपरीत मिला तो कर्म करें ही क्यों ?

भगवान् कहते हैं कि कर्मयोगी न तो कोई कामना करता है और न कोई नाशवान् फल ही उसे अभीष्ट है, वह तो केवल परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखकर ही कर्तव्यकर्म करता है । अतः उपर्युक्त दोनों कारणोंसे उसके कर्तव्यकर्ममें शिथिलता आना उचित नहीं है ।

मार्मिक बात—मनुष्यका प्रायः ऐसा स्वभाव हो गया है कि जिसमें उसे अपना स्वार्थ दिखायी देता है, उसी कर्मको वह बड़ी तत्परतासे करता है; किंतु वही कर्म उसके लिये बन्धन बन जाता है । वह यह समझता ही नहीं; अतः उस बन्धनसे छूटनेके लिये कर्मयोगके अनुसार आचरण करनेकी उसे बड़ी भारी आवश्यकता है । कर्मयोगमें सभी कर्म केवल दूसरोंके लिये किये जाते हैं, अपने लिये कदापि नहीं । फिर प्रश्न उठता है कि दूसरे कौन-कौन हैं ? अतः इसे समझना भी अत्यन्त आवश्यक है । अपने शरीरके अतिरिक्त दूसरे प्राणी-पदार्थ तो दूसरे हैं ही । यह बात सबके अनुभवमें प्रत्यक्ष है, पर ये अपने कहलानेवाले स्थूल शरीर (पाञ्चभौतिक पिण्ड), शरीर (इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण) और कारण शरीर (जिसमें माना हुआ अहं है)—भी स्वयंसे दूसरे ही हैं । स्वयं अर्थात् आत्मा या चेतन, परमात्माका अंश है और ये शरीर आदि पदार्थ जड़ प्रकृतिके अंश हैं । समस्त क्रियाएँ जड़में और जड़के लिये ही होती हैं । चेतनमें और चेतनके लिये कभी कोई क्रिया नहीं होती । अतः 'करना' अपने लिये है ही नहीं, कभी हुआ नहीं और हो सकता नहीं । हाँ, संसारसे मिले हुए इन शरीर आदि जड़ पदार्थोंको चेतन जितने अंशमें 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मान लेता है, उतने अंशमें उसका स्वभाव 'अपने लिये' करनेका हो जाता है । अतः दूसरोंके लिये कर्म करनेसे ममता-आसक्ति सुगमतापूर्वक मिट जाती है ।

जीवात्मा स्वयं नित्य है और कर्म एवं उसका फल उत्पन्न होने और नष्ट होनेवाला है । उत्पन्न होने और नष्ट होनेवालेका सम्बन्ध नित्य रहनेवालेके साथ कभी हुआ नहीं, हो सकता नहीं । केवल मान्यता हो जानेसे उनके साथ अपना सम्बन्ध हुआ प्रतीत होता है । अतः संसारकी वस्तु मानकर संसारको दे देनेसे यह माना हुआ सम्बन्ध सुगमतापूर्वक मिट जाता है ।

कर्मयोगमें 'कर्म'के द्वारा जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर अज्ञान नष्ट हो जाता है (गीता ४ । ३८) । फिर सञ्चित कर्मको भी अपने लिये न माननेसे उसका प्रभाव कर्मयोगीपर नहीं पड़ता । कर्मयोगी क्रियमाण कर्मका फल नहीं चाहता और करनेकी सामग्रीको भी वह 'अपना' नहीं मानता । समस्त क्रियाएँ और पदार्थ (जड़ होनेसे) 'अपने लिये हैं'—ऐसा भाव भी कर्मयोगीके मनमें नहीं उत्पन्न होता । वह सोचता है—'अहं' भी अपना न होकर प्रकृतिका कार्य ही है (गीता १३ । ५) । प्रारब्ध कर्मके अनुसार परिस्थिति और घटना सामने आ जाती है; किंतु 'इन परिस्थिति घटनाओंके साथ अपना वास्तविक सम्बन्ध नहीं है'—ऐसा माननेसे कर्मयोगीके मनपर सुख और दुःखका प्रभाव नहीं पड़ सकता । (क्रमशः)

सूरपञ्चशतीके उपलक्ष्यमें—

अन्तर्दृष्टि

[एक भाव-चित्र]

(लेखक—डॉ० श्रीराजेन्द्रमोहनजी भटनागर)

सूरके गौघाटमें निवास करनेके कारण वह स्थान चारों ओर प्रसिद्ध हो गया था । श्रीलक्ष्मण भट्ट दाक्षिणात्य, तैलंग ब्राह्मणके यशस्वी सुपुत्र आचार्य श्रीवल्लभ भट्ट दक्षिणमें दिग्विजय करनेके उपरान्त उत्तरकी ओर आये । उन्होंने काशी तथा समस्त उत्तरभारतमें शुद्धाद्वैत सिद्धान्तका प्रचार-प्रसार किया । भक्ति-(पुष्टि) मार्गकी स्थापनाके बाद वे अरैल (प्रयाग)में जाकर गृहस्थ बन गये । श्रीनाथ-जीके मन्दिरकी व्यवस्थाके लिये आचार्य अरैलसे व्रज आये थे। रास्तेमें वे गौ-घाटपर रुक गये । उनकी ख्याति सम्पूर्ण आर्यावर्तमें मकरन्दगन्ध-सी फैल चुकी थी । सूरदासजीने आचार्य वल्लभके विषयमें बहुत कुछ सुन रखा था । उधर महाप्रभु वल्लभाचार्यको भी सूरदासजीके विषयमें लोगोंसे पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो चुकी थी । महाप्रभुने सूरसे मिलनेकी इच्छा अभिव्यक्त की । उधर सूर भी महाप्रभुसे मिलना चाहते थे । सूरदासजीने अपने एक सहचरको अभिमत देते हुए कहा—'महाप्रभु भोजनोपरान्त विश्राम करनेके बाद जब गद्दीपर बैठनेवाले हों, तब मुझे सूचित करना ।'

सूरदासजीको वर्षोंसे ऐसे सुअवसरकी खोज थी । उनकी यह काङ्क्षा थी कि किसी तरह प्रख्यात आचार्यके दर्शन-लाभ हो सकें । कदाचित् उनकी कृपासे ही उन्हें दिव्य दृष्टि मिल सके, जिससे उनका विथकित मन संतोष तथा शान्ति पा सके और उन्हें अपने मृण्मय जीवनकी सार्थकता समझमें आ जाय । उनमें जीवनको लेकर यदा-कदा अद्भुत मान्थर्य (शैथिल्य) उतर आता था । महाप्रभुकी दिग्विजयकी प्रशंसाको वे समय-समयपर सश्रद्धा प्रकाशित कर दिया करते थे ।

महाप्रभु वल्लभाचार्य भोजनके पश्चात् विश्राम करके गद्दीपर बैठे थे । उनका मुख-मण्डल सद्यः विकसित अम्भोज-सा देदीप्यमान हो रहा था । उनकी बड़ी-बड़ी आँखोंमें चन्द्र-ज्योत्स्ना-सी शान्ति निर्झरित हो रही थी । वे शत्रुञ्जय थे । उनकी लम्बी-लम्बी बाँहें, हृष्ट-पुष्ट देह और चौड़ा कान्तिपूर्ण ललाट अतीव शोभनीय था ।

सूरको जैसे ही महाप्रभुके गद्दीपर विराजमान होनेका पता चला, वैसे ही वे उनसे मिलनेके लिये आतुर हो उठे । आज मंगल था । उनका जन्म-दिन, भाग्यशाली दिन ।

आज सुबहसे ही उनका चित्त प्रसन्न था। प्रातः ही कुटियाके ऊपर कौवा बोला था। दाहिनी आँख भी फड़क रही थी। सब शुभ लक्षण हो रहे थे। तभी उन्होंने सुना था कि महाप्रभुका वहाँ आगमन हो रहा है। वे तीन दिन वहाँ रुकेंगे। न जाने कैसे उनको लगा कि महाप्रभु स्वयं उनके प्रभु (आराध्य)के रूपमें वहाँ आये हैं। वे सोच रहे थे—अवश्य ही यह उनके विगत पुण्योंका प्रताप है। पर, उन-जैसे दीन-हीनपर यह कृपा अचानक कैसे हुई? उनमें ऐसा कुछ भी तो नहीं है, जिससे वह अपनेको प्रभु-दर्शनका पात्र मान सकें। रह-रहकर उनके मनोमन्दिरमें अननुज्ञात ही यह स्वर गूँज उठता था कि 'महाप्रभु निःसंदेह वहाँ उनके लिये ही रुके हैं।' आज उन्हें अपने मनोज्ञ-मनोरथकी प्राप्ति असंदिग्ध लगती थी। उन्हें विश्वास हो रहा था कि अब उनकी बंद दृष्टि खुलेगी। जीवनरहस्योंपर पड़ा हुआ अवगुण्ठन उठेगा।

महाप्रभु वल्लभ श्रीनाथजीकी कीर्तन-सेवाकी व्यवस्थाके लिये चिन्तित थे। सूरको पाकर अब उनके चित्तमें आशाके अङ्कुर प्रस्फुटित हुए। उन्होंने सूरदासको अपने स्थानपर आमन्त्रित किया। सूरने भी जब वल्लभाचार्यका यह आदेश सुना तो तुरंत बगलबंदी पहनी और सोल्लास नंगे पाँव चल पड़े। उनकी सहचर-अनुचर-मण्डली भी साथ हो गयी। महाप्रभुके समक्ष पहुँचकर सूरने सश्रद्धा आचार्यचरणोंको नमन किया। महाप्रभुने आशीर्वाद देते हुए उन्हें बैठ जानेके लिये आदेश दिया।

उस समय वहाँ खासी भीड़ उपस्थित थी। एकत्र लोगोंमें जिज्ञासा थी। सूर और महाप्रभुके इस मिलनकी परिणति क्या होती है? समुत्सुक लोगोंकी यह उत्कण्ठा छिपाये न छिपती थी। 'देखें, आज क्या होता है—महाप्रभु सूरसे क्या कहेंगे? सूर उसका क्या उत्तर देंगे, आज वे क्या गायेंगे? महाप्रभुके चित्तपर उनका कैसा प्रभाव पड़ेगा? आदि विचारोंका मंथन समुपस्थित जनसमुदायको चञ्चल बनाये हुए था।

कुछ क्षणोंतक महाप्रभु सूरको एकटक देखते रहे। फिर कहने लगे—'सूर, कुछ भगवद्-वर्णन करो। आराध्यका यशोगान—लीलापद सुननेके लिये ही मैंने तुम्हें बुलवाया था।'

इतना सुनते ही महाकवि सूरका चित्त गद्‌गद हो उठा। वे यही तो चाहते थे कि कुछ ऐसी बात बने कि जिससे उनका शेष जीवन पूर्णतः भगवदर्पण हो जाय और उनके उद्विग्न मनको स्थायी शान्ति प्राप्त हो सके।

सूरने इकतारा सँभाला। धीमे-धीमे उसके तारोंको छेड़ना शुरू किया। उनके मनमें अजीब-सा ऊहापोह मचा था कि वे क्या सुनायें? जो सुनायेंगे, वह आचार्यचरणोंको पसंद आयेगा या नहीं? उनके मनोमस्तिष्कमें अनेक लीलापद उठ रहे थे। परंतु वे निश्चयात्मक स्थितिमें नहीं आ पा रहे थे। महाप्रभुकी दिव्य दृष्टि भी सूरके मनोजगत्‌पर थी। इकतारा छेड़नेकी गतिविधिसे ही वे उनके अन्तर्जगत्‌की अनुभूति कर रहे थे।

अन्ततः सूरने टेक उठायी—'हरि हौं! सब पतितनको नायक'। सूरदास भावसहित, प्रेममें निमग्न होकर गा रहे थे—'स्व' और संसारको एकदम भूलकर। चारों ओर सन्नाटा था। उनकी आवाजमें अन्तर्वेदनाकी कसक थी। सत्‌के प्रति चल रहे अन्तर्द्वन्द्वका आभास उनके शब्द-शब्दसे मिल रहा था। महाप्रभुको उनकी इस विवशतामें उनकी विशेष स्थिति परिलक्षित होती जा रही थी।

सूरकी एक पद और गानेकी इच्छा हुई। उनकी सहज अभिलाषाको आचार्य समझ रहे थे। महाप्रभुके सामने गा पाना कोई सहज बात नहीं थी। आज उनको स्वर्ण-अवसर मिला था। वे अपने हृदयके साथ अपनी चिरसंचित साधनाको आज पदोंमें उँड़ेलकर रख देना चाहते थे। फलतः वे दूसरा पद गा उठे—

'हरि बिनु लोचन मरत पियास।'

सूर तन्मय थे। कैसी अपूर्व तन्मयता थी वह। उनके स्वरोंमें कैसी अद्भुत सम्मोहिनी शक्ति थी, जो हृदयको बरबस मथ-सी डालती थी।

महाप्रभुपर उनकी तल्लीनताकी गहरी छाप पड़ी। परंतु उनके मनोगत दैन्यपर उन्हें दया आने लगी। सोचने लगे कि ऐसा मधुर स्वर, ऐसी अपूर्व तन्मयता और ऐसा निश्छल, एकान्त समर्पण यदि उनको मिल सके तो न केवल श्रीनाथजीकी कीर्तन-सेवाका ही अभूतपूर्व प्रबन्ध हो जायगा; अपितु उनके सद्धर्म-प्रचारको भी तीव्र गति मिल सकेगी। सूरमें सब कुछ है। बस, केवल उन्मुक्त जीवन-दृष्टिका अभाव है। वह मिल जाय तो उनपर आच्छादित दैन्यताका कुहरा भी स्वयमेव ही हट जायगा। यह विचारकर महाप्रभु पद-समाप्तिके बाद मन्द मकरन्द-मधुर स्वरमें बोले—'सूर ह्वैके ऐसौ घिघियात काहे कौ हौ?' 'कछु भगवत्-लीलाहु कौ वर्णन करौ।'

सूरने इकतारा एक तरफ रखकर प्रत्युत्तर दिया—'महाराज, 'भगवत्-लीला' तौ हौं कछु समझूँ नहीं हूँ।'

महाप्रभुने कहा—'कछु समझौ चाहत हौ का?

'अंधेको क्या चाहिये, दो आँखें?' सूरने पाया कि आज उनका भाग्य अनुकूल है। उनका चिर अभीष्ट आज ही प्राप्त होना चाहता है। वे तत्काल बोले—'आपका आशीर्वाद मिल सका तो महाप्रभु, दासका जीवन सफल हो जायगा। यह आपका आजीवन कृतार्थ रहेगा।'

महाप्रभुने कहा—'तथास्तु! तुमपर श्रीनाथजी प्रसन्न हैं। तुम्हें अवश्य उनकी कृपाका प्रसाद प्राप्त होगा। जाओ, यमुनाजीमें स्नान करके आओ!'

सूरका अन्तराल आनन्दाप्लुत हो गया। उनका मनचीता हो रहा था। उनके अन्तश्चेतनमें जैसे मलयज मचल उठा हो। गद्गद कण्ठसे वे मन-ही-मन मुखरित हो कह रहे थे—'महाप्रभु, मुझे दीक्षा देंगे। मेरे जीवनको उपकृत करेंगे। मेरा कैसा अमित सौभाग्य है!' अरैल ग्राम—गङ्गाके उस पारसे यहाँतक महाप्रभुके आगमनका उद्देश्य सम्भवतः यही रहा होगा? वहाँ तो चैतन्य महाप्रभु स्वयं आपसे मिलने आये थे। आज वे ही महाप्रभु वल्लभ स्वतः मुझे अपनी शरणमें ले रहे हैं। कितनी कृपा है, उनकी इस (मुझ) दीन-हीनपर। निश्चय ही यह मेरे किन्हीं पुण्योदयका फल है। मैं धन्य हुआ!'

सूरने श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके बारेमें पहलेसे सुन रखा था कि वे लक्ष्मण भट्ट तथा उनकी धर्मपत्नी इल्लामा गारुको काशीसे आन्ध्रप्रान्त लौटते हुए वर्तमान रायपुरसे साठ किलोमीटर दूर निर्जन जंगल—चम्पारण्यमें प्राणहीन पिण्डके रूपमें प्राप्त हुए थे। जिन्हें देखकर ही माता इल्लामा गारुके स्तनोंसे दुग्ध-धाराएँ निःसृत हो उठी थीं। क्षणभरमें ही वह प्राणहीन पिण्ड तेजोमय रूपमें बदल गया था। उस तेजपुञ्जको पुत्ररूपमें वरदान सदृश प्राप्तकर उन्होंने उसे शीघ्र ही उठा लिया था। तेजोराशि इस महाविभूतिको शिशुरूपमें प्राप्तकर वे भट्ट दम्पति अब आन्ध्रप्रदेश न जाकर वापस काशी लौट आये थे। उसी तेजस्वी बालकके बड़ा होनेपर उसके प्रतिभा-आलोकसे आज दक्षिण-उत्तर, पूरब-पश्चिम—चारों दिशाएँ आलोकित हो उठी हैं। इस समय सम्पूर्ण आर्यावर्त्त उनके यशः-मकरन्दसे पूर्णतः सुवासित हो रहा है। यही सब सोचते हुए सूरदासजीने यमुनामें स्नान किया और लौटकर आचार्य वल्लभके श्रीचरणोंमें आ बैठे।

महाप्रभुने सूरको नामस्मरण कराया, समर्पण भावका उपदेश दिया और श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धकी अनुक्रमणिका सुनायी। कुछ समयके पश्चात् आचार्यवरने सूरदासको 'पुरुषोत्तमसहस्रनाम' भी सुनाया। अब क्या था? प्रभु-कृपासे यह सब अनायास प्राप्त करके उनका हृदय भगवद्-भक्ति-रसमें पूर्णतः निमग्न हो गया। उनकी संगीत-साधना भी आज कृतार्थ हो गयी। प्रभुप्रसाद

प्राप्त करके सूरकी अन्तर्दृष्टि तेजस्विता प्राप्त कर दिव्य दृष्टिमें बदल गयी । अपना प्राप्तव्य पाकर सूर कृतार्थ हो गये; उनका जीवन धन्य हो गया !

[सूर जन्मतः भावधनी थे। आचार्य वल्लभके सम्पर्कसे वे भक्ति और काव्यक्षेत्रमें अप्रतिम बन गये। तभी तो उनके सम्बन्धमें सादर स्मरणार्थ कहा गया—'सूर सूर ·····।']

राम-कथाका वैदिक स्रोत

(लेखक—डॉ० श्रीराजेश्वरसिंहजी 'राजेश', एम्० ए०, पी-एच्० डी०, काव्यरत्न-राष्ट्रभाषा-पुरस्कार-विजेता)

आज वेदोंकी इनी-गिनी (केवल २०के लगभग) संहिताएँ प्राप्त हैं । इनमें राम-कथाके कुछ पात्रोंका उल्लेख हुआ है, जिसके आधारपर वैदिक युगमें प्रचलित राम-कथाकी वात सामने आती है । ऋग्वेद (१० । ६० । ४)में इक्ष्वाकुका एक बार प्रसङ्ग आया है, किंतु इस सूक्तसे इतना ही सिद्ध होता है कि वे कोई राजा थे ।

अथर्ववेदमें भी एक बार मन्त्ररूपमें इक्ष्वाकुका नामोल्लेख हुआ है—'त्वां वेद पूर्व इक्ष्वाकोऽयम् (१९ । ३९ । ९) । इससे भी ज्ञात होता है कि इस मन्त्रके रचना-कालमें इक्ष्वाकु एक प्राचीन पराक्रमी राजा माने जाते थे । इसी तरह दशरथका भी एक वार उल्लेख हुआ है—चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति (१ । १२६ । ४) अर्थात् महाराज दशरथके चालीस भूरे रंगके घोड़े एक हजार घोड़ोंके दलका नेतृत्व कर रहे हैं । इसके अतिरिक्त महाराज दशरथका अन्य कोई विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता ।

पाश्चात्योंके अनुसार मध्य एशियाकी एक आर्य-जातिका नाम मितन्नि था । इस मितन्नि आर्य-जातिमें भी एक राजा दशरथ नामसे प्रसिद्ध हैं, जिनका शासनकाल १४०० ई० पू० माना जाता है ।* इसी तरह वैदिक साहित्यमें राम 'शब्द' भी है । तैत्तिरीय आरण्यक (५ । ८ । १३)में राम शब्दका प्रयोग हुआ है । सायणके अनुसार यहाँ रामका अर्थ 'रमणीय पुत्र' है । रामका नाम कुछ प्रतापी असुर राजाओंके नामोंके साथ आया है । ऋग्वेदके भाष्यकार सायणके अनुसार असुर शब्दका अर्थ—'असून् प्राणान् राति—ददाति इत्यसुरः' अर्थात् प्राणदाता है । कहना न होगा कि इन विविध व्युत्पत्तियोंके आधारपर 'असुर' का अर्थ देवता एवं 'असुर' दोनों ही सम्भव हैं, यथा—

'त्वं राजेन्द्र ···नॄन् पाह्यसुर त्वमस्मान्' (ऋग्वेद १ । १७४ । १)

× × ×

'त्वमग्ने रुद्रो असुरो महोदिवस्त्वम्' (२।१।६)

इन्द्रको देवताओं, असुरों एवं मनुष्यों—तीनोंका राजा वतलाया गया है—

'त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुर ये च मर्ताः' (२ । २७ । १०)

(क) ऋग्वेदके राजा राम—ऋग्वेदमें रामके नामका एक वार उल्लेख हुआ है—'प्रतद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु (१० । ९३ । १४) अर्थात् मैंने दुःशील पृथुपुत्र वेन और रामको वतलाया । इन यजमानोंके लिये यह (सूक्त) गाया गया है ।

(ख) भार्गवेय राम—ऐतरेय ब्राह्मण (७ । २७ । ३४)में राम भार्गवेय तथा जनमेजयकी एक कथा आती है । आचार्य सायण भार्गवेयकी व्युत्पत्ति 'भृगु'से वताते हैं । वेवर इसका भार्गव (मनुकी एक जाति† —

* The Bengali Ramayanas:-दिनेशचन्द्र सेन, पृ० सं० ३९ ।

† पृ० सं० १०—१६ । On the Ramayana— A. Weber

से जोड़ते हैं, किंतु रामायणसे इस कथाकी कोई तारतम्यता नहीं दीखती।

(ग) औपतस्विनि राम—शतपथब्राह्मणमें 'अंशुग्रह' तत्त्वपर विचार-विनिमयके परिप्रेक्ष्यमें अन्य आचार्योंके साथ औपतस्विनि रामके मतका भी प्रासङ्गिक उल्लेख मिलता है (४।६।१७)। इससे यह ज्ञात होता है कि वे उपतस्विन्के एवं याज्ञवल्क्यके समकालीन थे।

(घ) क्रानुजातेय राम—क्रानुजातेय राम—जैमिनीय उपनिषद्ब्राह्मणके दो प्रसङ्गोंमें राम क्रानुजातेय वैयाघ्रपदका उल्लेख मिलता है। दोनों स्थलों (जै० उप० ब्रा० ३।७।३२ एवं ४।९।११)में वे शुङ्ग शाट्यायनि आत्रेयके शिष्य एवं शंखबाभ्रव्यके शिक्षक हैं। वैदिक कालमें रामका नाम राजाओं और ब्राह्मणों—दोनोंमें प्रचलित था।

अश्वपतिका उल्लेख शतपथब्राह्मण (१०।६।१।२) तथा छान्दोग्य-उपनिषद् (५।११।४)-में हुआ है। प्रसङ्ग दोनों ग्रन्थोंका एक ही है—आत्मा तथा परमात्माके विषयमें तत्त्व-विवेचन। एक पारित प्रस्तावकी स्वीकृतिपर अश्वपति कैकेय ब्राह्मणको 'वैश्वानर'-के तत्त्वके सम्बन्धमें शिक्षा देते हैं। इन दोनों ग्रन्थोंमें जनक वैदेहका भी प्रकरण आया है। फिर भी रामायणके अन्य पात्रोंसे किसी सम्बन्धकी सूचना नहीं मिलती।* जनकका प्रथम परिचय हमें कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मणमें प्राप्त होता है। सावित्राग्नि-यज्ञका फल बतलानेके लिये एक आख्यान दिया जाता है, जिसमें जनक वैदेह देवताओंसे मिलते हैं। देवता इस यज्ञके अनेक फलोंका वर्णन करते हैं (३।१०।९)।

शतपथब्राह्मणमें जनक वैदेह एवं याज्ञवल्क्यका उल्लेख चार स्थलोंपर हुआ है। जनक इतने विद्वान् तत्त्वदर्शीके रूपमें सामने आते हैं कि वे याज्ञवल्क्यको भी शिक्षा देते हैं और स्वयं ब्राह्मण बन जाते हैं।

'शतपथब्राह्मण'का पहला प्रसङ्ग (११।३।१२-४) जैमिनि ब्राह्मण (१।१९) में भी मिलता है, जहाँ जनक अग्निहोत्रके विषयमें याज्ञवल्क्यसे प्रश्न पूछते हैं और उचित उत्तर पानेपर उनको १०० गायोंसे पुरस्कृत करते हैं।

शतपथब्राह्मणके दूसरे स्थल (११।४।३।२०)में जनक याज्ञवल्क्यसे मित्र विंदयज्ञको पाकर एक सहस्र गायोंका पुरस्कार देते हैं।

शतपथब्राह्मणके तीसरे प्रसङ्ग (११।६।२।१-१०)में जनकके ब्राह्मण बननेकी कथा संगुम्फित है तथा शतपथ-ब्राह्मणका चौथा प्रसङ्ग (११।६।३।१ आदि) तो जैमिनि ब्राह्मण २।७६-७७) तथा बृहदारण्यक उपनिषद् (३।१।१-२) में भी पाया जाता है। इस प्रसङ्गमें जनक एक बहुदक्षिण यज्ञका अनुष्ठान करते हैं और सबसे बड़े विद्वान्को १००० गायोंका पुरस्कार देनेकी घोषणा करते हैं।

बृहदारण्यक (४।१।१ से ४।४।७ तक)—के एक दूसरे प्रकरणमें जनक और याज्ञवल्क्यसे सम्बद्ध एक अलग वृत्तान्त मिलता है, जिसमें याज्ञवल्क्य जनकको शिक्षा देते हैं। बृहदारण्यकके दो अन्य स्थानों (५।१४।८ तथा (२।१।१)में भी जनककी चर्चा है। इसमें दूसरा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यहाँ गार्ग्य बालाकि और अजातशत्रुका वार्तालाप है, जो तनिक हेर-फेरके साथ कौषीतकि उपनिषद् (४।१) तथा शाङ्खायन आरण्यक (६।१)—में भी वर्णित है। कहना न होगा कि रामायणके अन्य पात्रोंकी अपेक्षा जनकका उल्लेख वैदिक साहित्यमें अत्यधिक हुआ है।

* राम कथा, फादर कामिल बुल्के, पृ० ४।

(च) सीता—वैदिक संहिताओंमें सीताके दो रूप प्राप्त होते हैं। पहली सीता कृषिकी अधिष्ठात्री देवी हैं, जिनका उल्लेख ऋग्वेदसे लेकर वैदिक साहित्यमें अनेक जगहोंपर हुआ है। ऋग्वेदके सूक्तों (१–४, ५–७) में क्षेत्रपति, शुन, शुनासीर एवं सीताका उल्लेख है। सीतासम्बन्धी प्रार्थनाका यह सूक्त विशेष द्रष्टव्य है—

अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा।
यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि॥
(ऋक्० ४। ५७। ६, अथर्व० ३। १७। ८)

दूसरी सीताका परिचय हमें तैत्तिरीय ब्राह्मणमें प्राप्त होता है। यहाँ सीता-सावित्री, सूर्यकी पुत्री और सोम-राजाका उपाख्यान किंचित् विस्तारपूर्वक दिया गया है। अन्ततोगत्वा इन्हें सीता-सावित्रीकी संज्ञा मिलती है। (कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण २। ३। १०)। एक विद्वान्ने यह सम्भावना प्रकट की है कि हो सकता है अनुसूयाके अङ्गरागका वृत्तान्त इससे प्रभावित हुआ हो[1]।

वैदिककालके अन्तमें सीता एक बार 'इन्द्रपत्नी' तथा एक बार 'पर्जन्यपत्नी' कही गयी हैं। इसी कारण 'इन्द्र' और रामको कुछ लोग एक मान लेते हैं। गृह्यसूत्रमें सीतासे सम्बद्ध प्रचुर सामग्री मिलती है। सूत्रोंका वैदिक साहित्यसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। काठक गृह्यसूत्र (७१। १–६)के अनुसार दो सीताएँ खींची जाती हैं तथा **'सीरा युञ्जन्ति'** मन्त्र पढ़कर सीतामें घी डाला जाता है। **'लाङ्गलयोजनम्'** का यह वर्णन चारों वेदोंके गृह्यसूत्रोंमें मिलता है। 'मानव गृह्यसूत्र'-के अनुसार अन्य सभी त्यौहारोंमें जिन देवताओंकी पूजा होनी चाहिये, इनमें सीता प्रधान हैं। भाष्यकार देवस्वामिके अनुसार यह पूजा कृषकोंके लिये हैं—**'कृषिवृत्तिजीवनैः।'**

कृषिकी अधिष्ठात्री देवी सीता जिनका उल्लेख ऋग्वेद (४। ५७। ६) एवं अथर्ववेद (३। १७। ८) में हुआ है, बादमें राम-कथामें अयोनिजा सीता बन गयीं और अयोनिजा सीताके जन्म और तिरोधानके जो वृत्तान्त मिलते हैं, वे सम्भवतः इस वैदिक सीताके व्यक्तित्वसे प्रभावित हैं[2]। डा० याकोबी रामायणकी सीता तथा वैदिक सीताको अभिन्न मानते हैं। इनके अनुसार वैदिक कालके देवता 'इन्द्र' रामायणकालतक परिवर्तित होकर राम बन गये हैं। इस तरह राम तथा इन्द्रकी अभिन्नता चिन्त्य हैं; किंतु रावण-वध तथा वृत्र-वध, सीता-हरण एवं गो-हरणकी समानता संदिग्ध है। ध्यातव्य है कि ऋग्वेद १। ३२। ५ के **'वृत्रं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण'** पदसे डा० याकोबीने राम-कथाका रूपक गढ़ना चाहा है। इसी तरह डा० वाननेगैलेन-जैसे कई विद्वान् पुरूरवा-उर्वशी (ऋग्वेद १०। ९५)की कथा तथा पृथु वैन्य (ऋग्वेद १। ११२। १५ आदि)के माध्यमसे रामकथाका वैदिक रूप निरूपित करते हैं, जो विस्तृत अनुसंधानके विषय हैं।

निष्कर्ष यह है कि रामकथाके निर्माणमें वैदिक सामग्री अत्यन्त अल्प मात्रामें सहायता प्रदान करती है। अतः रामकथाके स्रोतरूपमें वैदिक साहित्यमें अभी विशेष अनुसंधानकी आवश्यकता है। इससे ज्ञान एवं साधनाके क्षेत्रोंमें समुचित प्रकाश प्राप्त हो सकेगा।

---

१. रामकथा—बुल्के पृष्ठ १२। २. वही पृष्ठ २३।

वैदिक युगकी महान् विभूति—महर्षि याज्ञवल्क्य

(लेखक—श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'ब्रजेश', साहित्यरत्न, आगमवाचस्पति, धर्मरत्न, विज्ञानरत्न)

भारतकी ऋषिपरम्परामें याज्ञवल्क्यका नाम स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित होनेयोग्य है। वैसे इतिहास-पुराणों एवं वैदिक साहित्यके आलोडनसे एकाधिक याज्ञवल्क्योंकी सूचना प्राप्त होती है; यथा—१—यज्ञवल्कपुत्र याज्ञवल्क्य, २—ब्रह्मरातके पुत्र एवं वैशम्पायनके शिष्य याज्ञवल्क्य (विष्णुपु० ३।५।२), ३—बाष्कलके शिष्य याज्ञवल्क्य तथा ४—उद्दालक आरुणिके शिष्य और सामश्रवाके गुरु (बृह० उप० ६।३।७-८, ५।३) आदि। याज्ञवल्क्य महीधर इन्हें यहाँ वाजसके पुत्र बतलाते हैं।) ५—इसके अतिरिक्त साक्षात् ब्रह्माजीके शरीरसे उत्पन्न (वायुपुराण १।६१।२१; ब्रह्माण्ड० २।३५।२४) तथा ६—भर्तृयज्ञके पूर्वावतार याज्ञवल्क्य भी प्रसिद्ध है। सम्भव है, ये कुछ गुर्वादि नाम-भेद, कल्पभेदादिके कारण हों। अस्तु! यहाँ प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य स्मृतिकार ही इष्ट हैं*।

ऋषि-मुनियोंकी पवित्र भारतभूमिमें, प्रत्येक युगमें यहाँ ऐसे नर-नारी होते रहे हैं, जिन्होंने शाश्वत ज्ञानकी प्राप्तिके हेतु सर्वस्व त्याग किया और शारीरिक सुख-सुविधाको सर्वथा नगण्य समझा। इन विरक्त पुरुषोंद्वारा प्रदत्त ज्ञानके प्रकाशमें ही भारतीय समाज सदासे अपना मार्ग निश्चित करता आया है। बृहदारण्यकोपनिषद्के याज्ञवल्क्यके कथानकसे यह आभास होता है कि मानो वे अध्यात्मविद्याकी साक्षात् मूर्ति हों।

महर्षि याज्ञवल्क्य मिथिलाके निवासी थे। उन तपोनिष्ठके जीवनकी अनेक प्रेरक घटनाएँ हैं—एक बार पितृश्राद्धमें व्यस्त होनेके कारण वैशम्पायनजी ऋषिगोष्ठीमें उपस्थित न हो सके, जिसके कारण उन्हें वाचिक ब्रह्महत्याका अपराध लगा। उन्होंने अपने समस्त शिष्योंको सम्मिलित रूपमें उक्त पापके प्रायश्चित्तका आदेश दिया। याज्ञवल्क्यजी तीक्ष्णबुद्धि एवं आचार्यके प्रिय शिष्य थे। उन्होंने कहा कि ये दुर्बल विद्यार्थी क्या प्रायश्चित्त कर सकेंगे? मैं अकेला ही प्रायश्चित्त कर दूँगा।

वैशम्पायनजी याज्ञवल्क्यके इस अहंकारसे कुछ रुष्ट हो गये और उन्होंने उन्हें विद्यार्थियोंके अपमानस्वरूप समस्त श्रुतियोंको त्याग देनेका आदेश दिया। याज्ञवल्क्यद्वारा उपान्त (त्यागी गयी) श्रुतियोंको अन्य ऋषियोंने तीतर बनकर ग्रहण किया। इसीलिये इनकी कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय शाखाके नामसे प्रसिद्धि हुई। पर याज्ञवल्क्यजी निरुत्साहित नहीं हुए। उन्होंने भी संकल्प लिया कि मैं अब किसी मनुष्यको गुरु नहीं बनाऊँगा और सूर्यकी आराधना प्रारम्भ की। इस अटल निश्चयको देख भगवान् सूर्यने अश्वके रूपमें उन्हें शुक्लयजुर्वेदका उपदेश किया। इस शाखाको वाजसनेयि या माध्यंदिन शाखा कहा जाता है। इन्होंने याज्ञवल्क्यस्मृतिमें इस बातको स्वयं भी कहा है—

ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान्।
(याज्ञ० स्मृ० ३।११०)

मैत्रेयीको अमृततत्त्वका उपदेश

याज्ञवल्क्यकी दो पत्नियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। मैत्रेयी अत्यन्त ज्ञानसम्पन्ना थीं। बृहदारण्यकोपनिषद्में उनसे सम्बन्धित एक अति रोचक कथाका

* शास्त्रोंमें महर्षि याज्ञवल्क्यद्वारा प्रोक्त या विरचित निम्नलिखित ग्रन्थ निर्दिष्ट हैं। यथा—वाजसनेयि (शुक्ल यजु०) संहिता, शतपथब्राह्मण, (काण्व एवं माध्यंदिन), इनके द्वारा निर्मित एक योगग्रन्थ (सम्भवतः यह 'योगियाज्ञवल्क्य है, द्रष्टव्य- याज्ञवल्क्य स्मृति ३।११०, महाभारत १२।३२३।१०-१२, २३), फिर याज्ञवल्क्य, बृहद् योगियाज्ञवल्क्य एवं ब्रह्मयोगि याज्ञवल्क्य-स्मृतियाँ, याज्ञवल्क्यशिक्षा, (३२ श्लोकका वैदिक व्याकरण शिक्षाग्रन्थ) एवं याज्ञवल्क्यगीता आदि।

उल्लेख है। संन्यास ग्रहण करनेसे पूर्व याज्ञवल्क्यजीने मैत्रेयीको अपने पास बुलाकर कहा—मैत्रेयी! मैं अब इस गार्हस्थ्याश्रमको त्यागकर संन्यास ग्रहण करना चाहता हूँ। तुम दोनों पत्नियाँ मेरे पीछे आपसमें झगड़ा न करो और सुखपूर्वक रह सको, इसलिये मैं चाहता हूँ कि तुम दोनोंके बीच घरकी समस्त सम्पत्ति आधी-आधी बाँट दूँ।

मैत्रेयीको लगा कि पतिदेव जिस मार्गका अवलम्बन कर रहे हैं वह हो-न-हो इस लौकिक मार्गसे अवश्य श्रेष्ठ होगा, इसलिये प्रश्न किया—'भगवन्! यदि मुझे धन-धान्यसे परिपूर्ण समस्त पृथ्वी मिल जाय तो क्या उससे मैं अमृततत्त्व प्राप्त कर सकती हूँ?'

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—नहीं, नहीं! धन-धान्यसे युक्त पृथ्वीकी प्राप्तिसे तेरा धनिकोंका-सा जीवन तो हो सकता है, परंतु उससे अमृततत्त्वकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।'

इसपर मैत्रेयीने कहा—जिसे रखकर मृत्यु-चक्रसे छुटकारा न मिले उस वस्तुको लेकर मैं क्या करूँगी। भगवन्! जो आपके पास है, उसी परमधनको कृपा करके मुझे भी प्रदान कीजिये। इस उत्तरसे याज्ञवल्क्यने प्रसन्न होकर मैत्रेयीको आत्मतत्त्वके गूढ़तम रहस्योंका ज्ञान कराया। महर्षि याज्ञवल्क्यद्वारा पत्नीको दिये गये ज्ञानोपदेश बृहदारण्यकोपनिषद्में संकलित हैं जो भारतीय दर्शनके प्रमुख अङ्ग हैं।

जनकके बहुदक्षिण-यज्ञमें—

बृहदारण्यकोपनिषद्में एक और प्रेरणादायक प्रसङ्गका वर्णन है। एक बार मिथिलाके राजा जनकने बहुदक्षिण-यज्ञका आयोजन किया। यज्ञमें कुरु, पाञ्चाल आदि प्रदेशोंके बहुतसे ब्राह्मण एकत्र हुए। जनकने ब्राह्मणोंको बहुत दक्षिणा दी और सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ताका परिचय प्राप्त करनेके उद्देश्यसे अन्तमें वह गोशालासे एक हजार गायें निकाल कर लाये। प्रत्येक गायके प्रत्येक सींगपर सोनेकी दस-दस मुहरें बँधी हुई थीं। जनकने ब्राह्मणोंको सम्बोधित किया—'पूज्य ब्राह्मणो! आपमेंसे जो ब्रह्मतत्त्वका सर्वाधिक ज्ञान रखता हो वह इन गायोंको ले जाय।'

किसी ब्राह्मणको गौओंको ले जानेका साहस न हो सका। अन्तमें महर्षि याज्ञवल्क्यने अपने शिष्यको उन गौओंको ले जानेका आदेश दिया। यह देखकर उपस्थित ब्राह्मणोंमें खलबली मच गयी। उनको याज्ञवल्क्यका कथन अभिमानमात्र लगा। उन्होंने याज्ञवल्क्यसे प्रश्न-पर-प्रश्न पूछने प्रारम्भ कर दिये। सर्वप्रथम जनकके होता ऋत्विज् अश्वलने प्रश्न किया। जब याज्ञवल्क्यने उनके प्रश्नका समाधानकारक उत्तर प्रस्तुत कर दिया, तब ऋतभागपुत्र आर्तभाग, लक्ष्यपुत्र भुज्यु, चक्रपुत्र उषस्त, कुषीतकपुत्र कहोल, वाचक्नुकी पुत्री गार्गी और अरुणपुत्र उद्दालक आदिने अनेक गम्भीर प्रश्न पूछे। याज्ञवल्क्यने उनके सभी प्रश्नोंका समुचित उत्तर दिया। अन्तमें महाविदुषी गार्गीने पुनः प्रश्न पूछने प्रारम्भ कर दिये। गार्गीका सर्वप्रथम प्रश्न था—'हे याज्ञवल्क्य! शास्त्रज्ञोंके अनुसार जो ब्रह्माण्डसे ऊपर हैं, जो ब्रह्माण्डसे नीचे हैं, जो स्वर्ग और पृथ्वीके बीचमें स्थित हैं, जो भूत, वर्तमान तथा भविष्यरूप हैं—वह सूत्रात्मा किसमें ओत-प्रोत हैं?'

'अन्तर्यामीरूपसे आकाशमें, गार्गी!' याज्ञवल्क्यका उत्तर रहा। इतना स्पष्ट उत्तर सुनकर गार्गीने याज्ञवल्क्यको नमस्कार किया और पुनः दूसरा प्रश्न किया—'ठीक है, सूत्रात्मा आकाशमें ओत-प्रोत हैं, किंतु आकाश किसमें ओत-प्रोत है?'

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया,—'अक्षरमें, उस अक्षरमें—जो स्थूलसे भिन्न हैं, जो सूक्ष्मसे भिन्न हैं, जो ह्रस्वसे भिन्न हैं, जो दीर्घसे भिन्न हैं, जो लोहितसे भिन्न हैं, जो स्नेहसे भिन्न हैं, जो प्रकाशसे भिन्न हैं, जो अन्धकारसे

भिन्न हैं, जो वायुसे भिन्न हैं, जो आकाशसे भिन्न हैं। जो संगरहित, रसरहित, प्राणरहित, चक्षुरहित, श्रोतरहित वाणीरहित, मनरहित, तेजरहित, मुखरहित, परिमाणरहित, छिद्ररहित और देश-काल-वस्तु आदिकी सीमाओंसे रहित सर्वव्यापी एवं अपरिच्छिन्न हैं।' फिर ब्रह्मका नियन्तापन स्पष्ट करते हुए याज्ञवल्क्यने कहा—'हे गार्गी! जो पुरुष इस अक्षरको समझनेसे पूर्व इस लोकसे प्रस्थान करता है। वह दीन अर्थात् दयाके योग्य है और जो इस अक्षरको जानकर इस लोकको त्यागता है, वह ब्रह्मविद् या मुक्त हो जाता है।

महर्षि याज्ञवल्क्यके उत्तरसे संतुष्ट होकर विदुषी गार्गीने घोषित किया कि 'याज्ञवल्क्य अजेय हैं। हम सभी याज्ञवल्क्यको नमस्कार करें। ब्रह्मसम्बन्धी विवादमें इनको कोई भी परास्त नहीं कर सकता। इनकी पराजय कल्पनाके बाहरकी वस्तु है।' गार्गीकी उक्त घोषणाके पश्चात् भी शाकलके पुत्र शाकल्यने याज्ञवल्क्यसे इधर-उधरके अनेक प्रश्न किये, किंतु उसे बुरी तरह पराजित होना पड़ा। सर्वदिशाएँ महर्षि याज्ञवल्क्यके जय-जयकारसे गूँज उठीं।

महाभारतमें उल्लेख मिलता है कि महर्षि याज्ञवल्क्यने युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें अध्वर्यु (यजुर्वेदका पाठ करनेवाला विद्वान् ऋषि)का कार्य भी किया था।

स्मृतिकार याज्ञवल्क्य

याज्ञवल्क्यस्मृति, बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति और ब्रह्मयोगियाज्ञवल्क्यस्मृति आदिके प्रणेता तथा भरद्वाजके प्रति रामचरितके वक्ता महर्षि याज्ञवल्क्य ऐसे महापुरुष हैं, जिन्हें समाजके प्रत्येक अङ्गकी प्रत्येक समस्याका पूर्ण ज्ञान है। स्मृतिकारोंमें मनुके पश्चात् याज्ञवल्क्यका ही स्थान है। वे ब्रह्मचर्यके नियमोंका निदर्शन करते हैं, विवाह-पद्धतिका नियमन करते हैं। राजासे सम्बन्धित समस्त कार्योंके बारेमें व्यवस्था और उसके स्वरूपका निर्धारण करते हैं। वानप्रस्थी और यतिके कर्तव्योंका निदर्शनके साथ कर्मोंसे च्युत होनेकी दशामें उनके प्रायश्चित्तके उपाय भी बताते हैं। याज्ञवल्क्यकी व्यवस्थाएँ केवल ऊपरी नहीं हैं, उनमें अति गहनता है, समाजके चारों वर्णोंके लोगोंकी गर्भाधानसे लेकर मृत्युपर्यन्त विविध संस्कारोंसे युक्त, चारों आश्रमोंके माध्यमसे किस प्रकार आदर्श समाज बनाया जा सकता है और आत्मप्राप्ति या भगवत्प्राप्ति कैसे होती है—इसकी पूरी-पूरी संयोजना महर्षि याज्ञवल्क्यने अपनी स्मृतिमें की है। इनका आध्यात्मिक उपदेश बहुत कुछ गीतासे मिलता है। पाठकोंको इनकी स्मृतिका (३। १०९—२०५) प्रायः १०० श्लोकोंके इस अंशको ध्यानसे अवश्य देखना चाहिये। इसमें आत्मस्वरूपका सूक्ष्म विवेचन है—इनकी स्मृतिपर विक्रमादित्यके प्रधान मन्त्री श्रीविज्ञानेश्वरकी टीका भी वैसी ही उपयोगी और महत्त्वकी है।

बड़ा कौन ?

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥
(महा० वन० १३३। १२)

'अधिक वर्षोंकी आयु होनेसे, बाल पक जानेसे, धनसे अथवा अधिक बन्धुओंके होनेसे भी कोई बड़ा नहीं माना जाता। हममेंसे जो वेद-शास्त्रोंको जानता और उनकी व्याख्या करता है, वही बड़ा है—यह ऋषियोंने ही धर्म-मर्यादा स्थापित की है।'

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्

(२)

(गताङ्क ५, पृष्ठ-सं० १८३से आगे)

(लेखक—आचार्य पं० श्रीराजबलिजी त्रिपाठी एम्० ए०, व्याकरणशास्त्राचार्य, साहित्यशास्त्री, साहित्यरत्न)

यज्ञोपवीत धारण करनेके प्रकार—कर्तव्य-भेदसे यज्ञोपवीत तीन प्रकारसे धारण किया जाता है। (१) बायें कन्धेपरसे होता हुआ दाहिने हाथके भीतर, (२) दाहिने कन्धेसे होता हुआ बायें हाथके भीतर लटकनेवाला और (३) मालाकी भाँति कण्ठमें लटकनेवाला। मनुस्मृति (२ । ६३)के अनुसार पहले प्रकारसे धारण करनेपर द्विज 'उपवीती', दूसरे प्रकारसे 'प्राचीनावीती' और तीसरे प्रकारसे धारण करनेपर निवीती कहा जाता है—

देवकार्योंमें उपवीती (सव्य) और पितृ-कार्यमें अवीती (अपसव्य) रहनेका विधान है।

जनेऊका परिमाण—जनेऊका माप अपने चाव्वेसे होनेपर उसका परिमाण ठीक रहता है। जनेऊ न तो अधिक लम्बा हो और न अधिक छोटा ही। उसका परिमाण इतना ही होना चाहिये, जितनेसे वह कन्धेपरसे लटकता हुआ एक ओर नाभि और दूसरी ओर पीठका मेरुदण्ड स्पर्श कर कटितक ही हो सके। कात्यायनका कथन हैं—

पृष्ठदेशे च नाभ्यां च धृतं यद् विन्दते कटिम्।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम्॥

वसिष्ठके अनुसार नाभिसे ऊपर ही रह जानेपर छोटा होना माना जाता है। इससे आयु क्षीण होती है। नाभिसे नीचे अधिक लम्बा हो जानेपर भी तप नष्ट हो जाता है। इसलिये समझदार (विचक्षण) द्विजमात्रको नाभि-पृष्ठदेशीय मेरुदण्डस्पर्शी कटि-भागतक पहुँचनेवाला ही यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये।

धारणीय यज्ञोपवीतकी संख्या—देवलके अनुसार वटु (ब्रह्मचारी)को एक, गृहस्थ और वानप्रस्थीको दो तथा यती (त्रिदण्डी संन्यासी) को एक यज्ञोपवीत धारण करनेका विधान है। यही शास्त्रका निर्णय है—

उपवीतं वटोरेकं द्वे तथेतरयोः स्मृते।
एकमेव यतीनां स्यादिति शास्त्रस्य निर्णयः॥
(पारिजात)

श्रौत-स्मार्त कार्योंमें दो यज्ञोपवीत धारण करने चाहिये। किंतु यदि उत्तरीय वस्त्र (चद्दर) न हो तो एक और जनेऊ पहन लेना चाहिये—

यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि।
तृतीयमुत्तरीयार्थं वस्त्राभावे तदिष्यते॥
(विश्वामित्र-कल्प)

हेमाद्रि भी ऐसा ही कहते हैं—**'यज्ञोपवीते द्वे धार्ये।'**

वैखानसधर्मसूत्र (३ । १ । १) और बृहद्हारीत स्मृति (८ । ४४) से भी यह समर्थित है।

शिखा-सूत्र (यज्ञोपवीत) धारणकी अनिवार्यता—बिना शिखा बाँधे तथा बिना यज्ञोपवीत धारण किये हुएका किया हुआ (सम्पादित) पुण्य-कर्म निष्फल हो जाता है; जैसा कि कहा गया है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन तु।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥

इसलिये सदैव शिखा बाँधकर और यज्ञोपवीत धारण किये हुए रहकर ही कर्तव्य कर्म करना चाहिये।

जनेऊका कानपर चढ़ाना—मूत्र-पुरीषोत्सर्गके समय जनेऊको दाहिने कानपर इतना चढ़ा लेना चाहिये जितनेसे वह बैठनेपर नाभिसे नीचे न लटके।

नाभिसे ऊपरका अङ्ग पवित्रतर माना जाता है। (मुख पवित्रतम कहा गया है।)—

ऊर्ध्वं नाभेर्मध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः।
तस्मान्मध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा॥
(मनु० १। ९२)

बोधायनका कथन है कि जनेऊको सिरपर अथवा दाहिने कानपर लपेटकर पुरीषोत्सर्ग (मल-मूत्र-त्याग) करे—**'यज्ञोपवीतं शिरसि दक्षिणकर्णे वा कृत्वा'**···(४६। १) दाहिने कानपर लपेटनेका नियम अग्निवेश्म गृह्यसूत्र (२। ६। ८) में भी विहित है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृतिके आचाराध्याय १६में कहा गया है कि दाहिने कानपर जनेऊ कर उत्तराभिमुख होकर मल-मूत्र-त्याग करना चाहिये—**'कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः कुर्यान्मुत्रपुरीषे'**···'

दाहिना कान कतिपय कारणोंसे परम पवित्र माना जाता है, जिनमें एक यह है कि मरुत्, सोम, इन्द्र, अग्नि, सूर्य, वरुण—ये सब देवता द्विजके दाहिने कानमें निवास करते हैं और दूसरा यह है कि श्रोत्र आकाशीय इन्द्रिय है जो कभी अपवित्र नहीं होता—यद्यपि अन्य सभी भूत बाह्य प्रभावसे दूषित हो जाते हैं। आयुर्वेद कर्णेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रिय शिराओंका सम्बन्ध बतलाता है, अतः वैज्ञानिकताकी दृष्टिसे भी दाहिने कानपर जनेऊका चढ़ाना ठीक है। उसका रख-रखाव भी दाहिने कानपर उत्तम ढंगसे हो जाता है। मल-मूत्र-त्यागके समय कानपर जनेऊ नहीं चढ़ानेसे वह अशुद्ध हो जाता है। ऐसी दशामें अथवा अन्य प्रकारसे अशुद्ध होनेकी दशामें दूसरा यज्ञोपवीत धारण कर लेना चाहिये।

मलमूत्रं त्यजेद् विप्रो विस्मृत्यैवोपवीतधृत्।
उपवीतं तदुत्सृज्य धार्यमन्यन्नवं तदा॥
—सायण

जनेऊ यदि श्रावणी कर्म अनुष्ठित तथा अभिमन्त्रित न हो तो उसमें **'ॐकारं प्रथमसूत्रे आवाहयामि'**···'इत्यादि कहकर नौ देवोंका आवाहन करे। कम-से-कम १० वार गायत्री-मन्त्रसे उसे अभिमन्त्रित कर नीचे लिखे मन्त्रसे प्रत्येक जनेऊको धारण करे—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि॥
(पा० गृ० सू० २। २। ११)

बिना विधि-विधानके जनेऊको धारण करनेपर तप और ज्ञान निष्फल हो जाते हैं।

जनेऊ त्यागनेका नियम—जीर्ण अथवा अशुद्ध जनेऊको पहले कण्ठी कर ले, तब निम्नाङ्कित मन्त्रको पढ़ता हुआ पीठकी ओरसे निकालकर जलाशय या पवित्र स्थानमें डाल दें—

एतावद्दिनपर्यन्तं द्विजत्वं धारितं मया।
जीर्णत्वात्परित्यक्तं गच्छ सूत्र यथासुखम्॥
'समुद्रं गच्छ स्वाहा।' (नित्यप्रयोगमाला)

यज्ञोपवीत बदलनेकी अवस्थाएँ—(१) श्रावणी पूर्णिमाको श्रावणीकर्माङ्गभूत नवीन यज्ञोपवीत धारण करे।

(२) सूर्य-चन्द्र-ग्रहणके अन्तमें नूतन यज्ञोपवीत पहने।

(३) तीन पक्ष अथवा तीन महीने बीत जानेपर जनेऊ बदल दे।

(४) मरणाशौच अथवा जननाशौचके निवृत्त हो जानेपर नया जनेऊ पहने।

(५) किसीके मृत्यु-संस्कारमें सम्मिलित होनेपर स्नानके बाद जनेऊ बदले।

(६) लघुशङ्का अथवा दीर्घशङ्काके समय कानपर न चढ़ा पानेकी दशामें स्नानकर नवीन यज्ञोपवीत उपरिनिर्दिष्ट क्रमसे बदल देना चाहिये।

(७) टूट जानेपर अथवा किसी अन्य 'प्रसङ्ग'में अशुद्ध हो जानेपर शुद्ध होकर जनेऊ बदल देना चाहिये।

विशेष—जनेऊके विना भोजन कर लेनेपर 'नक्तव्रत' करना चाहिये और जल पी लेनेपर तीन प्राणायाम करना चाहिये। विना कानपर जनेऊ चढ़ाये लघु-दीर्घशङ्का करनेपर १०८ वार गायत्री-जप करना चाहिये। जनेऊ माङ्गलिक कार्योंमें पीला तथा पितृ-कार्योंमें शुभ्र धारण करे।

उपसंहार—जैसे हमारी भाव-भक्तिके वाह्य प्रतीक देवमूर्तियाँ और मन्दिर हैं तथा त्याग-वैराग्यके सूचक संन्यासि-परिधान गैरिक लँगोटी, अचला और दण्ड हैं, वैसे ही ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमियोंके लिये शिखा-सूत्रकी यज्ञीय उपयोगिता है एवं उसका त्रैवर्णिकोंके लिये विधिपूर्वक धारण करना अनिवार्य पावन कर्तव्य है।

शिखा और सूत्र हमारी आर्य-संस्कृतिके वे प्रतीक हैं, जिनकी रक्षा-कथाएँ कठिन चुनौतियोंके बीच हमारे राष्ट्रिय इतिहासकी मौलिक निधियाँ हैं। इनके रक्षा-सम्बन्धी गौरव-गाथाएँ—विकट धर्मसंकट-परिस्थितियोंपर विजय-वैजयन्तीकी सूचनाएँ एवं सतर्कताएँ समर्पित करती हैं, अतः सर्वथा संरक्षणीय शेवधि हैं। यही कारण है कि इनका ऐतिह्य, राष्ट्रिय तथा सामाजिक और स्पृहणीय धार्मिक महत्त्व है, जो भारतीय मूल संस्कृतिकी अन्तरात्मा है और यह सुस्पष्ट है कि भारतीय मूल संस्कृतिकी अन्तरात्मा अपौरुषेय वेदोंसे प्रतिपादित है। वेद ज्ञान-निधि तथा धर्म्य कर्तव्योंके प्रतिपादक हैं। शिखा-सूत्र वेद-विहित सांस्कृतिक, धार्मिक, बाह्याचरण-चिह्न हैं, जो अर्हणीय तथा सर्वथा संरक्षणीय हैं। फलतः द्विजमात्रको सदा यज्ञोपवीती और हिंदूमात्रको सदा बद्धशिखी रहना चाहिये—

'सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।'

गायत्री परम गति है

यज्ञोपवीत धारण करते समय द्विज प्रतिज्ञा करता है कि वह गायत्रीको अपने जीवनका एक आवश्यक अङ्ग मानेगा और जीवनभर नियमपूर्वक उसकी उपासना-आराधना करेगा। बुद्धि, विवेक और विचारोंकी पवित्रता तथा आत्म-शुद्धिके लिये गायत्रीकी साधना सर्वोपरि—रामवाण है। इसलिये ऋषियोंने गायत्रीके जप और ध्यानको संध्या-उपासनाका अनिवार्य अङ्ग बताया है। आत्म-कल्याणके लिये यह श्रेष्ठ (उपयोगी) साधना है। महर्षि वेदव्यासके वचन हैं—

सावित्रीमप्यधीयीत शुचौ देशे मिताशनः।
अहिंस्रो मन्दको जप्यो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः॥

(महा० शा० ३५। ३७)

'जो पवित्र स्थानमें मिताहारी हो, हिंसाका सर्वथा त्याग करके राग-द्वेष, मान-अपमान आदिसे शून्य होकर मौनभावसे गायत्रीका जप करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

न तेषां विद्यते दुःखं गच्छन्ति परमां गतिम्।
ये शृण्वन्ति महद्ब्रह्म सावित्रीगुणकीर्तनम्॥

(महा० अनु० १५०। ७२)

'उस घरके निवासियोंको जो परब्रह्मस्वरूप गायत्री-मन्त्रके गुणोंका कीर्तन सुनते हैं, उन्हें कभी दुःख नहीं होता है तथा वे परम गतिको प्राप्त होते हैं।'

एक दृढ़ निश्चयी भक्त ब्राह्मण

(भक्तगाथा)

कृष्णनगरके पास एक गाँवमें एक ब्राह्मण रहते थे। वे पुरोहितीका काम करते थे। एक दिन जब वे अपने एक यजमानके यहाँसे पूजा कराकर घर लौट रहे थे तो उन्होंने रास्तेमें देखा कि एक मालिन (सागवाली) एक ओर बैठी साग बेच रही है और बहुत भीड़ लगी है। कोई साग तुलवा रहा है तो कोई मोल कर रहा है। पण्डितजी प्रतिदिन उसी रास्तेसे जाते और सागवालीको भी वहीं देखते। एक दिन किसी जान-पहचानके आदमीको साग खरीदते देखकर वे भी वहाँ खड़े हो गये। उन्होंने देखा सागवालीके पास एक पत्थरका बाट है। उसीसे वह पाँच सेरवालेको पाँच सेर और एक सेरवालेको एक सेर साग तौल रही है। एक ही बाट सब तौलोंमें समान काम देता है। पण्डितजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सागवालीसे पूछा—'तुम इस एक ही पत्थरके बाटसे सबको कैसे तौल देती हो? क्या सबका वजन ठीक उतरता है?' पण्डितजीके परिचित व्यक्तिने कहा—'हाँ पण्डितजी! यह बड़े अचरजकी बात है। हम लोगोंने कई बार इससे लिये हुए सागको दूसरी जगह तौलकर आजमाया, परीक्षा कर देखा है—वजन पूरा ही उतरा।'

पण्डितजीने कुछ रुककर सागवालीसे कहा—'बेटी! यह पत्थर मुझे दोगी?' सागवाली बोली—'नहीं बाबाजी! तुम्हें नहीं दूँगी। मैंने बड़ी कठिनतासे इसको पाया है। मुझसे सेर-बटखरे खो जाते थे तो घर जानेपर माँ और बड़े भाई मुझे मारते थे। तीन वर्ष पहलेकी बात है, मेरे बटखरे कहीं खो गये, मैं जब घर गयी तो बड़े भाईने मुझे बहुत डाँटा और मारा भी। तब मैंने बहुत दुःखी होकर मन-ही-मन भगवान्‌को पुकारा। इतनेमें ही मेरे पैरके पास यह पत्थर आ करके लगा। मैंने इसे भगवान्‌की देन समझ, उठाकर अपने पास रख लिया और ठाकुरजीसे कहा—'महाराज! मैं तौलना नहीं जानती, आप ऐसी कृपा करें कि इसीसे सारे तौल पूरे हो जाया करें। बस, तबसे अपने विश्वासके अनुसार मैं इसे सदा अपने पासमें ही रखती हूँ। अब मुझे अलग-अलग बटखरोंकी कोई जरूरत नहीं होती। आप ही बतायें, इसे मैं अब आपको कैसे दे दूँ?'

पण्डितजी बोले—'मैं तुम्हें बहुत-से रुपये दूँगा।'

सागवालीने कहा—'कितने रुपये देंगे? क्या मुझे वृन्दावन जानेका खर्च दे देंगे? हमारे यहाँसे बहुतसे लोग तीर्थ करने वृन्दावन गये हैं। मेरी भी बड़ी इच्छा है, पर पासमें पैसा न होनेसे मैं नहीं जा सकी।' ब्राह्मणने पूछा—'कितने रुपयेमें तुम्हारा काम होगा?' सागवालीने कहा—'पूरे तीन सौ रुपये तो चाहिये ही।' ब्राह्मण बोले—'अच्छा बेटी! यह तो बताओ, तुम इस शिलाको रखती कहाँ हो?' सागवालीने कहा—'इसी टोकरीमें रखती हूँ, बाबाजी! और कहाँ रखूँगी?'

ब्राह्मण घर लौट आये और चुपचाप बैठे रहे। ब्राह्मणीने पतिसे पूछा—'आज यों उदास कैसे बैठे हैं?' ब्राह्मणने कहा—'मेरा मन अशान्त है, मुझे तीन सौ रुपयेकी जरूरत है।' स्त्रीने कहा—'इसमें खिन्न होनेकी कौन-सी बात है? पिछले दिनों आपने ही तो मेरे गहने बनवाये थे। विशेष जरूरत हो तो उन्हें ले लीजिये।' इतना कहकर ब्राह्मणी गहनोंका डिब्बा उठा लायी?

ब्राह्मणने गहने बेचकर रुपये एकत्र किये और दूसरे दिन प्रातः सागवालीके पास जाकर उसे रुपये गिन दिये और बदलेमें उस शिलाको ले लिया।

गङ्गाजीपर जाकर उसको अच्छी तरह धोया और फिर नहा-धोकर वे घर लौट आये। इधर पीछेसे एक छोटा-सा सुकुमार बालक ब्राह्मणीके पास आकर कह गया—'पण्डिताइनजी! तुम्हारे घर ठाकुरजी आ रहे हैं, घरको अच्छी तरह झाड़-बुहारकर ठीक करो।' सरलहृदया ब्राह्मणीने घर साफ करके उसमें पूजाकी सामग्री सजा दी। ब्राह्मणने आकर देखा तो उन्हें आश्चर्य हुआ। ब्राह्मणीसे पूछनेपर उसने एक छोटे बालकद्वारा आकर कहे जानेकी बात बतायी। यह सुनकर पण्डितजीको और भी आश्चर्य हुआ। पण्डितजीने शिलाको सिंहासनपर पधराकर उसकी पूजा की, पुनः उसे ऊपर आलेमें विराजमान कर दिया।

रातको सपनेमें भगवान्‌ने कहा—'तू मुझे जल्दी लौटा आ, नहीं तो तेरा भला नहीं होगा, सर्वनाश हो जायगा।' ब्राह्मणने कहा—'जो कुछ भी हो, मैं तुमको लौटाऊँगा नहीं।' ब्राह्मण अपनी सामर्थ्यानुसार जो कुछ भी पत्र-पुष्प मिलता, उसीसे ठाकुरजीकी पूजा करने लगे। दो-चार दिनों बाद स्वप्नमें फिर कहा—'मुझे फेंक आ, नहीं तो तेरा लड़का मर जायगा।' ब्राह्मणने कहा—'मर जाने दो, तुम्हें नहीं फेंकूँगा।' महीना पूरा बीतने भी न पाया था कि ब्राह्मणका एकमात्र पुत्र मर गया। कुछ दिनों बाद फिर स्वप्न हुआ—'अब भी मुझे वापस दे आ, नहीं तो तेरी लड़की मर जायगी।' दृढ़ निश्चयी ब्राह्मणने पहलेवाला ही उत्तर दे दिया। कुछ दिनों पश्चात् लड़की भी मर गयी। पुनः स्वप्नमें संकेत हुआ—'इस बार तुम्हारी स्त्री मर जायगी।' ब्राह्मणने इसका भी वही उत्तर दिया। अब स्त्री भी मर गयी। इतना सब होनेपर भी ब्राह्मण अचल-अटल बना रहा। लोगोंने समझा यह पागल हो गया है। कुछ दिन बीतनेपर स्वप्नमें उसने फिर सुना—'देख! अब भी मान जा, मुझे लौटा दे, नहीं तो सात दिनोंमें तेरे सिरपर बिजली गिरेगी।' ब्राह्मण बोले—'गिरे बिजली। मैं उस सागवालीकी गंदी टोकरीमें तो अब तुम्हें नहीं ही रहनेदूँगा।' ब्राह्मणने ठाकुरजीको एक मोटे कपड़ेमें लपेटकर अपने शिरपर मजबूतीसे बाँध लिया। ब्राह्मणदेवता अब उन्हें इसी प्रकार हर समय बाँधे रखते। कड़कड़ाकर बिजली कौंधती, समीप आती, पर लौट जाती। स्वप्नके अनुसार बिजली गिरनेमें अब मात्र तीन ही दिन शेष रह गये थे। एक दिन जब ब्राह्मण गङ्गाजीके घाटपर सन्ध्या-पूजा कर रहे थे, तभी दो सुन्दर, सुकुमार बालक उनके पाससे होकर जलमें कूदे। उनमें एक साँवला था, दूसरा गोरा। उनके शरीरपर कीचड़ लिपटा था। वे इस ढंगसे जलमें कूदे कि जल उछलकर ब्राह्मणके शरीरपर पड़ा। ब्राह्मणने कहा—'तुम लोग कौन हो भैया? कहीं इस तरह गङ्गाजीमें कूदकर स्नान किया जाता है? देखो, मेरे शरीरपर जल पड़ गया, मैं भीग गया, इतना ही नहीं, मेरे ठाकुरजीपर भी छींटे पड़ गये हैं।' बालकोंने कहा—'ओहो! तुम्हारे भगवान्‌पर भी छींटे लग गये। अच्छा बाबा! तुम गुस्सा न हो। अब ऐसा न होगा।' पण्डितजीने कहा—'नहीं भैया, गुस्सा कहाँ होता हूँ। बताओ तो तुम किसके लड़के हो, कहाँ रहते हो? ऐसा सुन्दर रूप तो मैंने इससे पहले कभी नहीं देखा! अहा! कैसी अमृतमयी, मीठी बोली है तुम्हारी!' बालकोंने कहा—'बाबा! हम तो यहीं रहते हैं।' पण्डितजी बोले—'अच्छा बताओ! क्या मैं फिर कभी तुम लोगोंको देख सकूँगा?' बच्चोंने कहा—'क्यों नहीं, हम पुकारते ही आ जायँगे।' पण्डितजीके नाम पूछनेपर उन्होंने बताया—'हमारा कोई एक नाम नहीं है, जिसका जो मन होता है, वह उसी नामसे हमें पुकार लेता है।' साँवला बालक इतना कहकर थोड़ा मुस्कराया और बोला—'यह लो मुरली, जरूरत हो तब इसे बजाना। बजाते ही हमलोग आ जायँगे।'

गौरवर्णके दूसरे बालकने एक फूल देते हुए पण्डितजीसे कहा—'बाबा ! इस फूलको अपने पास रखना, तुम्हारा मङ्गल होगा ।' इतना कहकर वे दोनों शीघ्रतासे चले गये । उन दोनोंको जाते हुए देख ब्राह्मण निर्निमेष दृष्टिसे उनकी ओर आँखे लगाये रहे । मन-ही-मन सोचने लगे—'अहा ! कितने नयनाभिराम हैं ये दोनों ! क्या कभी फिर इनके दर्शन होंगे ?'

ब्राह्मणने फूल देखकर सोचा—'फूल तो बहुत सुन्दर है, कैसी मनोहर सुगन्ध आ रही है इसमें । पर मैं इसका क्या करूँगा और रखूँगा भी कहाँ ? इससे अच्छा है कि इसे मैं अपने राजाको ही दे आऊँ । नयी और सुन्दर वस्तु देखकर वे प्रसन्न होंगे ।' यह विचारकर पण्डितजीने वह फूल ले जाकर राजाको दे दिया । राजा बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने अन्तःपुरमें जाकर उसे बड़ी रानीको दे दिया । इतनेमें ही छोटी रानीने आकर उसे देखा और कहा—'मुझे भी ऐसा फूल चाहिये । मेरे लिये भी ऐसा ही एक फूल मँगवा दें, नहीं तो मैं डूब मरूँगी ।'

राजा दरबारमें आये और सिपाहियोंको उसी समय पण्डितजीको खोजने भेजा । सिपाहियोंने खोजते-खोजते एक स्थानपर जाकर देखा कि ब्राह्मणदेवता शिरपर शिला बाँधे पेड़की छायामें बैठे कुछ गुनगुना रहे हैं । वे उनको राजाके पास ले आये । राजाने कहा—'महाराज ! वैसा ही एक फूल और चाहिये ।' पण्डितजी बोले—'राजन् ! मेरे पास तो बस वह एक ही फूल था; फिर भी चेष्टा करता हूँ ।' ब्राह्मण उन दो दिव्य, मनोहर बालकोंकी खोजमें निकल पड़े । अकस्मात् उन्हें मुरलीवाली बात याद आ गयी । उन्होंने मुरली बजायी । उसी क्षण गौर-श्यामकी जोड़ी प्रकट हो गयी । ब्राह्मण उनकी रूपमाधुरीका दर्शन करके आत्म-विभोर हो गये । कुछ देर बाद सामान्य होनेपर उन्होंने कहा—'भैया ! मुझे वैसा ही एक फूल और चाहिये । मैंने तुम्हारा दिया हुआ फूल तो राजा साहबको दे दिया था । राजाने अब वैसा ही एक फूल और माँगा है ।' गौरवर्णी बालकने कहा—'वैसा फूल तो हमारे पास नहीं है, परंतु हम तुम्हें एक ऐसे स्थानपर ले जायँगे, जहाँपर वैसे फूलोंका बगीचा लगा है । तुम आँखें बंद करो ।' ब्राह्मणने आँखें मूँद लीं । बच्चे उसका हाथ पकड़कर न मालूम किस प्रकार बात-ही-बातमें एक ऐसे स्थानपर ले गये जहाँ ब्राह्मणने आँखें खोलीं तो देखकर एकदम मुग्ध हो गया । बड़ा अलौकिक और सुन्दर स्थान था वह, वहाँके वृक्ष-लताएँ आदि सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंसे लदे थे । उनकी मधुर सुगन्धसे वातावरण सुरभित था । बगीचाके मध्य एक बड़ा मनोहर प्रासाद था । ब्राह्मणने पाया कि अब वे दोनों किशोर गायब थे । वह साहस करके स्वयं आगे बढ़ा । प्रासादके अंदर जाकर देखा—सब ओरसे सुसज्जित, सुरम्य तथा अत्यधिक रमणीय था । प्रासादके बीचमें रत्नोंका एक दिव्य सिंहासन था । सिंहासन खाली था । पण्डितजीने उस स्थानको भगवान्‌का मन्दिर समझकर प्रणाम किया तो उनके मस्तकपर बँधी हुई ठाकुरजीकी शिला खुल करके फर्शपर गिर पड़ी । ज्यों ही पण्डितजीने उसे उठानेको हाथ बढ़ाया कि शिला फटी और उसमेंसे भगवान् लक्ष्मीनारायण प्रकट होकर उस दिव्य सिंहासनपर विराजमान हो गये ।

भगवान् नारायणने मुसकराते हुए ब्राह्मणसे कहा—'हमने तुमको कितने दुःख दिये, परंतु तुम अटल रहे । दुःख पानेपर भी तुमने हमें नहीं छोड़ा, पकड़े रहे, इसीसे प्रसन्न होकर हम तुम्हें सशरीर इस दिव्य देशमें ले आये हैं—

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥
(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६५)

'जो भक्त स्त्री, पुत्र, गुरुजन, घर, सम्पत्ति, प्राण, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर एकमात्र हमारी शरणमें आ जाता है, उसे भला हम कैसे छोड़ सकते हैं ?' इधर देखो—यह खड़ी है तुम्हारी सहधर्मिणी, तुम्हारी कन्या और तुम्हारा पुत्र । तुम्हारे सहित इन सबको मेरे धामकी प्राप्ति हो गयी है । तुममेंसे केवल तुम्हारे एककी भाव-भक्ति और दृढ़ निष्ठासे तुम्हारा पूरा परिवार मुक्त होकर मेरे दिव्य लोकसहित मुझे प्राप्त करनेका अधिकारी हो गया ।

धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाकी आवश्यकता

(लेखक—श्रीव्रजभूषणजी गुप्त 'दीपक' एम्० ए० [हिन्दी] साहित्यरत्न)

धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा प्रत्येक बालकके पूर्ण विकास तथा प्रगति-हेतु नितान्त आवश्यक है। इसके अभावमें शिक्षा सदैव अपूर्ण रहती है जैसा कि सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् श्रीजी०जेण्टाइलका मत है कि 'राष्ट्रीय संस्कृतियाँ मानव-मस्तिष्ककी उच्चतर आवश्यकताओंके प्रति इतनी सजग कभी नहीं थीं, जितनी कि अब हैं। ये आवश्यकताएँ केवल सौन्दर्यात्मक और अमूर्त बौद्धिक आवश्यकताएँ ही नहीं हैं, वरन् नैतिक और धार्मिक भी हैं। जिस विद्यालयमें नैतिक और धार्मिक शिक्षाका समावेश नहीं है, वह विद्यालय निरर्थक है।'

अब प्रश्न यह उठता है कि धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा है क्या? धर्म ही नैतिकताका जन्मदाता है। इन दोनोंका अभिन्न सम्बन्ध है। बिना धर्मके नैतिकताका कोई भी अस्तित्व नहीं रहता। यही प्रसिद्ध विद्वान् ए० सी० बर्टोल (A. C. Bartol)का कथन है[1]। साथ ही इसी सम्बन्धमें डब्ल्यू० एम्० रैबर्न (W. M. Ryburn) का यह मत भी हम नहीं भूल सकते हैं कि—'नैतिकताको धर्मसे ही स्वीकृति प्राप्त होती है। नैतिक बलका स्रोत धर्म है। धर्मसे सम्बन्धित किये बिना नैतिकताकी शिक्षा देना असम्भव है। धर्म ही नैतिकतामें प्राण फूँकता है।[2]'

नैतिक शिक्षा, नीति-सम्बन्धी शिक्षाका ही पर्याय है। हम अपने दैनिक जीवनमें प्रतिदिन अपने सहयोगियों, मित्रों एवं ज्येष्ठ बन्धुओंसे सफल जीवन-सम्बन्धी महानतम अनुभवोंको सुनते हैं जो हमारे जीवनकी सर्वतोमुखी प्रगतिके लिये पथ-प्रदर्शकका कार्य करते हैं। वे हमें कर्तव्य-अकर्तव्य, सत्य-असत्य, मानवता-अमानवता, प्रेम-द्वेष आदिका ज्ञान कराते हैं। हमें ऐसा ज्ञान प्रदान करनेवाली शिक्षा ही नैतिक शिक्षा कही जा सकती है। 'नीति-मञ्जरी' नामक संस्कृत ग्रन्थके महान् रचयिताका मत है कि **'एवं कर्तव्यमेवं न कर्तव्यमित्यात्मको यो धर्मः सा नीतिः'** अर्थात्-जो कर्तव्य और अकर्तव्यको स्पष्ट करे—यह करनेयोग्य है, यह नहीं करनेयोग्य है, इस प्रकारके धर्मको ही नीति कहते हैं। श्रीजितेन्द्रनाथ पाठकके अनुसार—'व्यक्तिके परिस्थिति-सापेक्ष आचारोंसे सम्बन्धित तत्त्व-प्रदर्शनका नाम 'नीति' है।' व्यक्तिके ये आचार जिस तरहसे कई प्रकारके हो सकते हैं, उसी तरह उनके तत्त्व-दर्शनकी दृष्टि भी कई प्रकारकी होती है। व्यक्तिके आचार—धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक कई प्रकारके हो सकते हैं। उसी प्रकार इनका विवेचन करनेवाले विषय भी धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि कई प्रकारके नामोंसे अभिहित होते हैं। धार्मिक तत्त्वदर्शनको अलग रखते हुए भी नीतिपरक रचनाओंमें एक प्रकारकी सर्वधर्म-विरोधी आधारभूत नैतिक मान्यताएँ आ जाती हैं, यद्यपि उनकी अविरोधिताकी सीमा परिस्थितियाँ ही बनती हैं।

'नीति' शब्द संस्कृतकी 'णीञ्'धातुसे बनता है, जिसका अर्थ है आगे ले जाना। समाजको स्वस्थ एवं संतुलित पथपर अग्रसर करने एवं व्यक्तिको धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षकी उचित रीतिसे प्राप्ति करानेके लिये जिस विधि या निषेधमूलक वैयक्तिक और सामाजिक नियमोंका विधान देश-काल और पात्रके संदर्भमें किया जाता है, उन्हें 'नीति'शब्दसे अभिहित करते हैं।

1. "Some would divorce morality from religion; but religion is the root without which morality would die. (A. C. Bartol)

2. It is essential that in any school which is seeking to develop the all round personality of its pupils, religion should be taught." (W. M. Ryburn)

आजका छात्र एवं युवावर्ग विविध प्रकारके अमानवीय भावों एवं कुत्साओंका शिकार हो अनेक दुर्गुणोंमें पारंगत हो गया है और होता भी जा रहा है। उदाहरणार्थ— बिना अध्ययन किसी तरह अनियमित साधनोंके माध्यमसे परीक्षा उत्तीर्णकर डिग्री प्राप्त करनेका प्रयास करना, धार्मिक, राष्ट्रिय, आध्यात्मिक, नैतिक एवं जीवनोपयोगी चरित्र-निर्माणकारी साहित्यके प्रति पूर्णतः उदासीन एवं अज्ञानी बना रहना, आये दिनों चारों ओर हड़ताल एवं तोड़-फोड़ आदि विध्वंसकारी कार्योंमें प्रवृत्त रहना, व्यर्थमें राजनीतिके कुचक्रमें पड़कर राजनैतिक नेताओंकी स्वार्थपूर्तिमें सहायक बनना, महान् पुरुषों, गुरुओं, माता-पिता तथा अपनेसे बड़े व्यक्तियोंके आदेशों एवं शिक्षाओंका सदैव उल्लङ्घन एवं अवहेलना कर उनके विपरीत कार्य करना, किशोरावस्थाके रंगमें मस्त रहकर अनैतिक कार्योंकी ओर उन्मुख होना, दिवास्वप्न देखना, अनुशासनहीनता, नेतागीरी, दादागीरी आदि-आदि अव्यावहारिक तथा निन्दनीय कार्य भी इनमें प्रविष्ट हो गये हैं। वस्तुतः इन आचरणोंके कारण आजकलके छात्र एवं युवावर्गकी स्थिति बड़ी शोचनीय होती जा रही है।

ऐसी स्थितिमें समस्त शिक्षाविद्, संत, महात्मा, कुलपति, आचार्य, शिक्षामन्त्री, समाजसुधारक एवं समाजका प्रत्येक प्राणी चिन्तित है। उनके सामने एक ऐसी विशालकाय समस्या आ खड़ी हुई है जो दिनोंदिन भयानक रूप धारण करती जा रही है। इस विषम स्थितिमें अब यह प्रश्न उठता है कि हमें ऐसा क्या करना चाहिये, जिससे इस अति भयंकर समस्याका सही हल प्राप्त हो। फलतः इन दुर्गुणोंके स्थानपर शान्ति, अनुशासन, सेवा स्वावलम्बन, नैतिकता, मानवता आदि सद्भावोंका उदय हो और ये गुण उनमें पूर्ण विकसित हो सकें।

आवश्यकता इस बातकी है कि आजके छात्र एवं युवा-वर्गके सम्मुख ऐसा स्वस्थ वातावरण निर्मित कर प्रस्तुत किया जाय जिससे प्रभावित होकर वे अपना समस्त विष-दुर्गुण भूलकर, उसका परित्यागकर सुधासम सद्गुणोंकी ओर उत्तरोत्तर उन्मुख हो सकें उन्हें अपने जीवन-का कण्ठहार बनानेके लिये स्वेच्छया विवश हो जायँ। इसके लिये हम सभीको सामूहिक रूपमें यथाशीघ्र प्रयत्नशील होना पड़ेगा। यद्यपि यह कार्य आजके स्वार्थ एवं कुभावपूर्ण मानव-समाजके लिये कठिन अवश्य है, फिर भी यदि हम चाहते हैं कि इस उग्र समस्याका समाधान हो तो हमारे समाजके प्रत्येक वर्ग और समुदायके व्यक्तियोंको इस समस्यासे मुकाबला करने-हेतु हर तरहसे सामने मैदानमें आकर खड़ा होना पड़ेगा।

विद्या-मन्दिरों तथा समाजके कोने-कोनेमें नित्यप्रति धार्मिक, नैतिक, जीवनोपयोगी तथा आध्यात्मिक उपदेशों एवं शिक्षाओंकी व्यवस्थाकर उनका शीघ्र प्रसार अति आवश्यक है। सरकारको चाहिये कि वह कम-से-कम स्नातक-स्तरकी कक्षाओंके पाठ्यक्रममें धार्मिक एवं नैतिक-शिक्षाको अनिवार्य विषयके रूपमें स्वीकृति प्रदान करे। साथ ही प्रत्येक शिक्षण-संस्थाओंमें कम-से-कम एक दिवस प्रति सप्ताह या प्रति पाक्षिक महान् विचारकों, संतों, साधु-महात्माओं, दार्शनिकों, अध्यात्मविदोंको आमन्त्रितकर उनके उद्बोधक अमृतमय उपदेश करानेका निर्देश सरकार निर्गत करे। सन् १९६४में प्रोफेसर डी० एस्० कोठारीकी अध्यक्षतामें नियुक्त किये गये शिक्षा-आयोगने धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाकी आवश्यकतापर विशेष बल देते हुए अपनी व्याख्याएँ इस प्रकार प्रस्तुत की थीं—

१—**विद्यालयस्तर**—(१) छात्रोंको आधारभूत नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्योंकी शिक्षा दी जाय तथा उनमें सत्यता, ईमानदारी, सामाजिक उत्तरदायित्व, पशुओंपर दया, वयोवृद्ध लोगोंके प्रति सम्मान, दुखी और दरिद्रोंके प्रति सहानुभूति आदि मानवीय भावोंको भरा जाय।

(२) उक्त नैतिक मूल्योंको विद्यालयोंके कार्य-क्रमोंका अभिन्न अङ्ग बनाया जाय।

(३) उपर्युक्त नैतिक विषयोंकी शिक्षा देनेके लिये समय-तालिकामें प्रति सप्ताह कुछ घंटे निर्धारित किये जायँ।

(४) विद्यालयोंके पाठ्यक्रमोंमें संसारके सब धर्मोंकी चुनी हुई शिक्षाओंको उचित स्थान दिया जाय।

(५) सम्पूर्ण देशके लिये समान पाठ्यक्रमकी समान पुस्तक धर्मके विद्वानोंद्वारा राष्ट्रीयस्तरपर तैयार करायी जायँ।

(६) प्राथमिक स्तरपर भारतके सनातन वैदिक और संसारके अन्य महान् धर्मोंसे चुनी गयी रोचक कहानियोंद्वारा आधारभूत दार्शनिक मूल्यों और जीवनकी समस्याओंकी शिक्षा दी जाय और उधर प्रवृत्त करनेका प्रयास किया जाय।

(७) माध्यमिक स्तरकी उच्च कक्षाओंमें महान् धार्मिक और आध्यात्मिक नेताओंकी जीवनियाँ पढ़ायी जायँ।

८—माध्यमिक विद्यालयोंके अन्तिम दो वर्षोंमें छात्रोंद्वारा विश्वके महान् धर्मोंके प्रमुख सिद्धान्तोंका अध्ययन कराया जाय।

२—विश्वविद्यालय स्तर (१) छात्रोंको व्यक्तिके सम्मान, समानता, सामाजिक न्याय, कल्याणकारी राज्य आदिकी शिक्षा दी जाय।

(२) छात्रोंमें नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्योंका विकास करनेके लिये भारत और अन्य देशोंकी संस्कृतियोंसे सामग्रीका संकलन किया जाय।

(३) प्रथम डिग्री-कोर्सके पाठ्यक्रममें संसारके विभिन्न धर्मोंके सामान्य अध्ययनको स्थान दिया जाय।

(४) डिग्रीके प्रथम कोर्समें महान् धार्मिक नेताओंकी जीवनियाँ पढ़ायी जायँ।

(५) उक्त कोर्सके द्वितीय वर्षमें संसारके धार्मिक ग्रन्थोंमेंसे सार्वभौमिक महत्त्वके चुने हुए भागोंको पढ़ाया जाय।

(६) उक्त कोर्सके तृतीय वर्षमें धर्म-दर्शनकी प्रमुख समस्याओंका अध्ययन कराया जाय।

(७) विश्वविद्यालयोंके तुलनात्मक धर्म विभागोंद्वारा उपर्युक्त धार्मिक और नैतिक साहित्य तैयार किया जाय।

समाज एवं सरकारको उक्त सुझावोंको कार्यान्वित करनेका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये, ताकि आजके युवकवर्गमें जो अमानवीय एवं अनैतिक तत्त्वोंका विकास दिनोंदिन हो रहा है, वह अवरुद्ध हो तथा छात्र एवं युवावर्ग मानवीय एवं नैतिक तत्त्वोंके प्रति जागरूक हों' वे उन्हें अपने जीवनका अनिवार्य अङ्ग स्वीकृत कर तदनुरूप ग्रहण (कृत्य) करें।

सरकारको यह भी चाहिये कि वह ऐसे दूषित, अश्लील, रोमान्टक, जासूसी साहित्य एवं चलचित्रोंके प्रकाश्य तथा प्रदर्शनपर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगा दे। साथ ही सरकारको उनके स्थानपर उच्चकोटिके साहित्य एवं स्वस्थ मनोरञ्जनके साधनोंके निर्माण तथा विकासहेतु प्रोत्साहन तथा उचित सहायता प्रदान करनी चाहिये, जो प्रत्येक किशोर तथा युवाके चारित्रिक-विकास एवं जीवन-निर्माणमें सहायक हो सकें। साहित्यकारों एवं कला-विशेषज्ञोंका भी यहाँ यह परम कर्तव्य हो जाता है कि वे वर्तमान परिस्थितियोंका यथार्थावलोकन एवं अध्ययन करते हुए उच्चकोटिके साहित्य एवं सुरुचिपूर्ण, कलात्मक आदर्श चित्रोंका ही सृजन करें; क्योंकि साहित्यकार ही युग-निर्माता होता है। वह समाजको जिस पथपर अग्रसर कराना चाहे, अपने कृतिद्वारा प्रेरित कर, करा सकता है।

युवावर्गको नैतिकताकी ओर उन्मुख एवं प्रेरित करनेसे पहले सर्वप्रथम समाजके समस्त व्यक्तियोंको, चाहे वे जिस किसी पदपर सेवारत हों या चाहे वे जिस व्यवसायसे सम्बन्धित हों—उन्हें अपना चरित्र सुधारना होगा, समस्त स्वार्थों तथा विविध दुर्गुणोंका अविलम्ब परित्याग करके मानवीय एवं नैतिक गुणोंको स्वीकार कर तदनुरूप जीवनमें परिवर्तन करना पड़ेगा; तभी हम वयोवृद्धजन युवावर्गको चरित्र-निर्माण, अनुशासन, मानवता, धर्म, नैतिकता आदिका पाठ पूर्ण आत्मविश्वासके साथ

सिखा सकेंगे। यद्यपि यह कार्य आदर्शवादमें तो अति-सरल है। लेकिन उसे यथार्थरूपमें परिणत करना आजके इस युगमें उतना ही कठिन प्रतीत होता है। फिर भी यदि हम चाहते हैं कि हमारे युवावर्गमें अभीष्ट परिवर्तन हो तो सर्वप्रथम हमें अपनेमें अविलम्ब परिवर्तन करना पड़ेगा। विना त्यागके कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य पूर्णताको प्राप्त नहीं हो पाता है। अस्तु, यह महान् त्याग हम सभीको करना ही पड़ेगा और करना भी चाहिये।

अन्तमें हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा छात्र एवं युवावर्गमें व्याप्त समस्त दुर्गुणोंकी विकराल अग्निज्वालाओंके शमनहेतु नितान्तावश्यक है। पूज्य गाँधीजीके शब्दोंमें—'मेरी दृष्टिमें चरित्र, आचार और धर्म, परिवर्तनीय पारिभाषिक शब्द प्रतीत होते हैं। आचारशास्त्रके मूल तत्त्व तो सभी धर्मोंमें समान हैं जिनके अनुसार बालकोंको निश्चितरूपसे शिक्षा दी जानी चाहिये और धार्मिक शिक्षाको पर्याप्त मान्यता प्राप्त होनी चाहिये।' इस उक्तिमें धार्मिक शिक्षाका महत्त्व स्पष्ट है। ऐसा ही सर्वपल्ली डॉ० श्रीराधाकृष्णन् महोदयने भी कहा है—'धर्म ही जीवनकी वह प्रमुख वस्तु है, जो जीवनका प्रकाश और (जीवनका) विधान है।'

इस प्रकार आज हमें धार्मिक और नैतिक शिक्षाके इस सर्वमान्य महत्त्वको स्वीकार करके अपने देशकी वर्तमान शिक्षा-पद्धतिमें समय रहते आमूल परिवर्तन कर लेना चाहिये। जबतक निर्विवाद रूपसे हमारे यहाँके शिक्षातन्त्रकी आधारशिला धर्म तथा उच्च नैतिकतासे अनुप्राणित सुदृढ़ और सुसंस्कृत नींवपर न रखी जायगी, तबतक हम अपने राष्ट्रके भावी नागरिकों—आजके बालक-बालिकाओंका जीवन सुसंस्कारित, प्रगतिशील, सब दृष्टियोंसे विकसित तथा प्रकाशसे परिपूर्ण नहीं बना पायेंगे।

सदाचार-महिमा

(रचयिता—पं० श्रीरघुनायकजी मिश्र)

मन मतवाले हाथी के हित, संयम एक सशक्त-पाश है।
इन्द्रिय के चञ्चल घोड़ों पर, लगी-लगायी कड़ी रास है॥
संयम भागीरथी भक्ति का सतत प्रवाहित निर्मल जल है।
संयम के साधक की जग में, नित्य-निरन्तर कीर्ति-धवल है॥
सदाचार का कवच पहनकर, कालजयी होते हैं योगी।
और इसीका सम्बल लेकर, पाते हैं विश्राम वियोगी॥
सदाचार की आभा से ही, अरुणोदय में अरुणाई है।
सनत्कुमारों में यौवन है, मानवता में तरुणाई है॥
सदाचार की कथा जगत में, लिखनेवाले कवि लिखते हैं।
उन कवियों की गाथा नभ में, पूर्ण प्रकाशित रवि लिखते हैं॥
फूल छोड़ कर जो काँटों को, जीवन में अपना सकता है।
सच्चा वही सदाचारी है, जिसमें सच्ची मानवता है॥

सूर्य और ब्रह्माण्ड

[समन्वयात्मक वैज्ञानिक दृष्टिकोण]

(अङ्क ५ पृष्ठ सं० १८९से आगे)

(लेखक—श्रीशिवनारायणजी गौड़)

हमारा अनन्त विस्तारतक फैला यह विश्व इतना विचित्र, अद्भुत और रम्य है कि मनुष्यकी दृष्टि उसे आश्चर्यके साथ सदियोंसे देखती चली आ रही है, पर आज भी वह तृप्त नहीं हो पायी है। इक्के-दुक्के तारोंसे लगाकर तारापुञ्ज, तारामण्डल, ताराबादल और दृश्यमानसे परे प्रकाशपिण्डोंकी खोज-बीनमें लगा मनुष्य अभी अपनी हार माननेको तैयार नहीं। उसने चन्द्र-मण्डलकी सदेह यात्रा की, मंगल-शुक्रपर वह उपग्रह भेज रहा है, दूरबीनोंकी सहायता तथा रेडियोधर्मी वैश्वकिरणोंके संग्रहणसे वह अनन्तमें दूरतक छलाँग लगाना चाहता है। आइन्स्टाइनके मतानुसार विश्व अब चतुरायामी है, लम्बाई और चौड़ाई, ऊँचाई या मोटाईके साथ समयका आयामी जोड़कर उन्होंने विश्वको प्रथम तीनमें सान्त, पर अन्तिममें अनन्त माना है। इसीलिये स्थानमें प्रवेश पाकर भी समयमें उसकी पहुँच सीमित है। आकाशकी अनन्ततामें वह इतना आगे बढ़ गया, पर समयकी अनन्तता अभी उसकी पकड़से बाहर ही बनी हुई है। जो प्रश्न वैदिक ऋषिने पूर्वकालमें पूछा था वह अभी अनुत्तरित-जैसा ही है—

> को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्
> कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः।
> अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेना-
> ऽथा को वेद यत आबभूव॥
> (ऋक्संहिता नासदी० १०। १२९। ६)

जब देवता भी सृष्टि-निर्माणके बाद उत्पन्न हुए तो निश्चयपूर्वक इसे कौन बताये कि यह सृष्टि कहाँसे कब उत्पन्न हुई। श्रुति आगे यह कहती है—

> नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं
> नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
> किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्
> अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥
> (ऋक्—नासदीयसूक्त १)

न शून्य था, न आदि पदार्थ था, न पृथ्वी थी और न आकाश। एक अवर्णनीय तत्त्व—तम (कुहरे) के बादलोंकी भाँति सघन रूपमें फैला हुआ था।

इसीको और विस्तार देते हुए वे कहते हैं—

> तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे-
> ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
> तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्
> तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥
> (नासदीयसू० ३)

उस अन्धकारके अनिश्चित आवरणमें आदि प्रकृतिरूप सलिल (हाइड्रोजन)में तपस् (एनर्जी-ऊर्जा) की शक्तिसे इस सृष्टिका निर्माण हुआ।

पर उस समय जो हुआ उसमें देवतातक साक्षी नहीं रहे तो और इसे जाने भी कौन? श्रुति भी यही कहती है—

> इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
> यदि वा दधे यदि वा न।
> योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
> सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥
> (वही ७)

अर्थात्—भगवान् जाने इस सृष्टिके निर्माणका रहस्य क्या है? पर मनुष्य इसमें भी हार मानना नहीं चाहता। उसने अनुमान लगाया है कि (हायलके मतानुसार) लगभग ५, ०००, ०००, ००० (पाँच अरब) वर्ष पहले संसारके शून्यकालमें शून्यमेंसे एक महाविस्फोट हुआ। उससे सघन न्यूट्रान्सका महागोला उत्पन्न हुआ। एक सेकेण्ड बाद वह १५०००० लाख अंश तापमानपर पहुँच गया। एक घंटेमें उसके केन्द्रमें वर्तमान

न्यूट्रानोंने उनके आधुनिक रूप-जैसा रूप धारण कर लिया। उनमें हाइड्रोजनके तत्त्व प्रधान थे जो होलियममें बदलकर आणविक प्रतिक्रिया करते रहे। एक वर्ष बाद तापमान ३० लाख अंशतक गिर गया। ३०० लाख वर्ष बाद वह परमाणु-रज बादलोंमें बदल गयी। १००० लाख वर्ष बाद ३०००°के लगभग तापमान घट गया। प्रकृतिके नियमानुसार ये प्राथमिक रज-गैस सूर्यसे भी १००,०००,००० गुनीसे अधिक संहति-वाले बादलोंमें बदलकर आकाशमें बिखरकर चक्कर लगाने लगे, जिससे प्राथमिक आकाशगङ्गाओं और आदिम तारोंका जन्म होता गया।

महाविस्फोटके बाद हुए विस्तारसे आकाशमें तारा-पिण्ड बन गये, जो उसी क्रममें ठंडे होकर वर्तमान रूप एवं आकार धारण करते जा रहे हैं। दूसरे मतानुसार ब्रह्माण्ड (पहले मतके विपरीत) फैल नहीं रहा है, स्थिर है। तीसरा मत है कि फैलने व सिकुड़नेकी क्रियाएँ निरन्तर चलती हैं, यद्यपि यह अन्तराल काफी बड़ा होता है।

इस सम्बन्धमें वैज्ञानिकोंने स्वयं ही कुछ शङ्काएँ प्रस्तुत की हैं। संसार किसी भी प्रकार प्रारम्भ हुआ हो उसमें गुरुत्वाकर्षणका नियम तो विश्वव्यापी ही है। यदि शून्यकालमें महाविस्फोटका प्रभाव अनन्त दूरीतक फैला तो प्रभावके प्रसारकी गतिके प्रभावको थोड़ा समय तो लगना ही चाहिये, उतनी देरमें वहाँ कौन-सा प्रभाव काम कर रहा था? यदि प्रभावको सार्वत्रिक समान मान लें तब भी दूसरी शङ्का यह उठती है कि गुरुत्वका स्थिराङ्क क्या सदा वही रहता चला आया है? यदि उसमें घट-बढ़ हुई तो उसके प्रभावमें भी अन्तर पड़ना चाहिये। यदि गुरुत्व शक्ति बढ़ जाये तो पृथ्वीको सूर्यके अधिक निकट पहुँचना पड़े और सूर्य अधिक चमकीला बनकर उसे अधिक प्रकाश देने लगे। ऐसी ही शङ्का संहतियोंके सम्बन्धमें भी की गयी है कि यह भी तो हो सकता है कि अतीतमें परमाणुओंकी संहतियाँ छोटी हों और गुरुत्वाकर्षण भी घट रहा हो।

गुरुत्वाकर्षणका प्रभाव इतना प्रबल होता है कि सूर्यका आन्तरिक दाब हटा दिया जाय तो वह आधे घंटेमें एक बिन्दु-जितना रह जायगा।

ऐसी ही शङ्का पदार्थोंके क्षय और उत्पत्तिके बारेमें की गयी है। यदि ब्रह्माण्ड विकसित हो रहा है तो नया पदार्थ कहाँसे आयेगा? हायलने उसे ऋणात्मक ऊर्जाकी कल्पनाद्वारा समझनेका प्रयास किया है।

आइंस्टानका संसार स्थान ही नहीं, समय-सापेक्ष है; इसलिये दो सुदूर गतिशील स्थानोंकी घड़ियोंमें अन्तर होता है, अवकाशके मुड़ा होनेसे प्रकाश-किरणें भी मुड़ जाती हैं और न्यूटनके जिस ईशरमें पदार्थ गति करता है, वह आइन्स्टाइनकी अन्यूक्लिदीय ज्यामिति और समयावकाश संश्लेषण सिद्धान्तानुसार कुछ भिन्न ढंगसे काम करता है। पर ये अन्तर इतने नगण्य हैं कि आइन्स्टाइनका संसार पुराने संसारसे बहुत अलग दिखायी नहीं देता।

फिर भी सापेक्ष संसारकी अवकाश और कालकी सापेक्षतामें हम कहाँ हैं, हमारा सौर-मण्डल कहाँ है, यह विश्व कहाँ है, इसपर थोड़ा प्रकाश डालकर इसी बातपर आकर रुकना पड़ता है कि अर्जुनने जिस विश्वरूपको देखना चाहा था, उसका प्रत्यक्ष रूप देखना हो तो वह सूर्यसे आरम्भ करके तारोंतक बढ़ता जाय तब उसे **'दिवि सूर्यसहस्रस्य'**की दीप्ति ही नहीं, उससे सहस्रगुनी आभा, अनन्त विस्तार और विस्मयकारी पदार्थसे परिचय प्राप्त होगा। उससे परे क्या है, उसे तो दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मूर्ति ही जाने, सामान्य विचारक तो उसकी झलकमात्र ही पा सकता है। (समाप्त)

व्रतसंदर्भ—

आदित्यव्रत (५)

(पञ्चमाङ्क पृ० सं० १८६ से आगे)

[सूर्य-संक्रान्ति]

(१) संक्रान्ति[1]–(बहुसम्मत)—सूर्य जिस राशिपर स्थित हों, उसे छोड़कर जब दूसरी राशिमें प्रवेश करें, उस समयका नाम संक्रान्ति है। ऐसी बारह संक्रान्तियोंमें मकरादि[2] छः और कर्कादि राशियोंके भोगकालमें क्रमशः उत्तरायण और दक्षिणायन—ये दो अयन होते हैं। इनके अतिरिक्त मेष और तुलाकी संक्रान्तिको 'विषुवत्[3] संक्रान्ति', वृष, सिंह, वृश्चिक और कुम्भको 'विष्णुपदी' एवं मिथुन, कन्या, धनु और मीनकी संक्रान्तिको 'षडशीतिमुख' संक्रान्ति कहते हैं। अयन या संक्रान्तिके समय व्रतदान या जपादि करनेके विषयमें 'हेमाद्रि[4]'के मतसे संक्रमण होनेके समयसे पहले और पीछे-की १५-१५ घड़ियाँ, 'बृहस्पति[5]'के मतसे दक्षिणायनके पहले और उत्तरायणके पीछेकी २०-२० घड़ियाँ तथा 'देवल[6]'के मतसे पहले और पीछेकी ३०-३० घड़ियाँ पुण्यकाल कही गयी हैं। इनमें 'वसिष्ठ'के मतसे 'विषुव[7]'-के मध्यकी, विष्णुपदी और दक्षिणायनके पहलेकी तथा षडशीतिमुख और उत्तरायणके पीछेकी उपर्युक्त घड़ियाँ पुण्यकालकी होती हैं। वैसे सामान्य[8] मतसे सभी संक्रान्तियोंकी १६-१६ घड़ियाँ अधिक फलदायिका हैं। इनमें यह विशेषता है कि दिनमें संक्रान्ति हो तो पूरा दिन, अर्धरात्रिसे पहले हो तो उस दिनका उत्तरार्ध, अर्धरात्रिसे पीछे हो तो आनेवाले दिनका पूर्वार्ध, ठीक अर्धरात्रिमें[9] हो तो पहले और पीछेके तीन-तीन प्रहर और उस समय अयनका भी परिवर्तन हो तो तीन-तीन दिन पुण्यकालके होते हैं[10]। उस समय दान देनेमें भी यह विशेषता है कि अयन[11] अथवा संक्रमण-समयका दान उनके आदिमें और दोनों ग्रहण तथा षडशीतिमुखके निमित्तका दान अन्तमें देना चाहिये।

(२) संक्रान्ति-व्रत (वङ्ग ऋषि सम्मत) मेषादि किसी भी संक्रान्तिका जिस दिन संक्रमण हो उस दिन प्रातः स्नानादिसे निवृत्त होकर **'मम ज्ञाताज्ञातसमस्त-पातकोपपातकदुरितक्षयपूर्वकश्रुतिस्मृतिपुराणोक्त-पुण्यफलप्राप्तये श्रीसूर्यनारायणप्रीतये च अमुक-संक्रमणकालीनं अमुकोऽहं स्नानदानजपहोमा-दिकर्म करिष्ये।'** यह संकल्प करके स्वच्छ और

१–रवेः संक्रमणं राशौ संक्रान्तिरिति कथ्यते। (स्कन्दपुराण नागरखण्ड)

२–मकरकर्कटसंक्रान्तिक्रमेणोत्तरायणं दक्षिणायनं स्यात्। (मुक्तसंग्रह)

३–अयने द्वे विषुवती चतस्रः षडशीतयः। चतस्रो विष्णुपद्यश्च संक्रान्त्यो द्वादश स्मृताः॥ (सूर्यसिद्धान्त)

४–अधः पञ्चदश ऊर्ध्वं च पञ्चदशेति। (हेमाद्रि चतुर्वर्गचिन्तयन)

५–दक्षिणायने विंशतिः पूर्वो मकरे विंशतिः परा। (बृहस्पति संहिता)

६–संक्रान्तिसमयः सूक्ष्मो दुर्ज्ञेयः पिशितेक्षणैः। तद्योगाच्चाप्यधश्चोर्ध्वं त्रिंशन्नाड्यः पवित्रिताः॥ (देवलस्मृति)

७–मध्ये तु विषुवे पुण्यं प्राग्विष्णौ दक्षिणायने। षडशीतिमुखे तीते अतीते चोत्तरायणे॥ (वसिष्ठसंहिता)

८–अर्वाक् षोडश विज्ञेया नाड्यः पश्चाच्च षोडश। कालः पुण्योऽर्कसंक्रान्तेः··············॥ (शातातपसंहिता)

९–अह्नि संक्रमणे पुण्यमहः सर्वं प्रकीर्तितम्। रात्रौ संक्रमणे पुण्यं दिनार्धं स्नानदानयोः॥
अर्धरात्रादधस्तस्मिन् मध्याह्नस्योपरि क्रिया। ऊर्ध्वं संक्रमणे चोर्ध्वमुदयात्प्रहरद्वयम्॥ (वसिष्ठसंहिता)

१०–पूर्णे चैवार्धरात्रे तु यदा संक्रमते रविः। तदा दिनत्रयं पुण्यं हित्वा मकरकर्कटौ॥ (वसिष्ठसंहिता)

११–अनयादौ सदा देयं द्रव्यमिष्टं गृहेषु यत्। षडशीतिमुखे चैवं विमोक्षे चन्द्रसूर्ययोः॥ (संक्रान्तिकल्प)

शुद्ध वेदी या चौकीपर ल.. कपड़ा बिछाकर अक्षतोंका अष्टदल लिखे और उसमें सुवर्णमय सूर्यनारायणकी[१२] मूर्ति स्थापन करके उनका पञ्चोपचार (स्नान, गन्ध, पुष्प, धूप और नैवेद्य) से पूजन और निराहार, साहार, अयाचित, नक्त या एकभुक्त व्रत करे तो सब प्रकारके पापोंका क्षय, सब प्रकारकी आधि-व्याधियोंका निवारण और सब प्रकारकी हीनता अथवा संकोचका निपात हो जाता है तथा प्रत्येक प्रकारकी सुख-सम्पत्ति, संतान और सहानुभूतिकी वृद्धि होती है ।

(३) संक्रमण-व्रत (गर्ग, गालव-गौतमादि)—यदि मेषादि किसी भी अधिकृत राशिको छोड़कर सूर्य दूसरी राशिमें प्रवेश करें (अथवा सौम्य या याम्यायनकी प्रवृत्ति हो) तो उस समय दिन-रात्रि, पूर्वाह्ण-पराह्ण, या अर्धरात्रिका कुछ भी विचार न करके तत्काल स्नान[१३] करे और श्वेतवस्त्र धारण करके अक्षतादिके अष्टदलपर स्थापित किये हुए सुवर्णमय सूर्य-नारायणका उपर्युक्त प्रकारसे पूजन करे । साथ ही **'ॐ आकृष्णेन०'** या **'ॐ नमो भगवते सूर्याय'** अथवा **'ॐ सूर्याय नमः'**का जप और आदित्यहृदयादि स्तोत्र-का पाठ करके घी, शक्कर और मिले हुए तिलोंका हवन करे और देय अन्न-वस्त्रादि वस्तुओंका दान दे तो इनमेंसे एक-एक भी पावन[१४] करनेवाला होता है ।

स्मृत्यन्तरमें रात्रिको स्नान और दान वर्जित हैं । इसका 'विष्णुने' यह समाधान किया है कि विवाह, व्रत, संक्रान्ति, प्रतिष्ठा, अवभृथ-स्नान, पुत्रजन्म, चन्द्र और सूर्यके ग्रहण तथा व्यतीपात—इनके निमित्तका 'रात्रिस्नान'[१५] और ग्रहण, उद्वाह (विवाह), संक्रान्ति, यात्रा, प्रसव-पीडा और इतिहासोंका श्रवण इनके निमित्तका 'रात्रि-दान'[१६] वर्जित नहीं है । यही नहीं, यदि कोई ग्रहणादि उक्त अवसरोंमें रात्रिके विचारसे स्नान (और दान) न[१७] करे तो वह चिरकाल (कई वर्षोंतक रोगी-दरिद्री रहता है । व्रतसंख्यामें यह विशेषता है कि वृद्धवसिष्ठके मतानुसार अयन[१८] (मकर-कर्क-संक्रमण) और विषुव (मेष-तुला-संक्रमण)—इनमें तीन रात्रिका और आपस्तम्बके मतानुसार अयन,[१९] विषुव और दोनों ग्रहण—इनमें अहोरात्र (सूर्योदयसे सूर्योदयपर्यन्त)का उपवास करनेसे सब पाप छूट जाते हैं । पुत्रवान्[२०] गृहस्थके लिये रविवार, संक्रान्ति, चन्द्र और सूर्यके ग्रहण और कृष्णपक्षकी एकादशीका व्रत करनेकी आज्ञा नहीं है । अतः उनको चाहिये कि व्रतकी अपेक्षा स्नान और दान अवश्य करें । इनके करनेसे दाता और भोक्ता दोनोंका कल्याण होता है ।

(क्रमशः)

१२–उपोष्यैवं तु संक्रान्तौ स्नातो योऽभ्यर्चयेद्धरिम् । प्रातः पञ्चोपचारेण स काम्यं फलमश्नुते ॥ (वसिष्ठसंहिता)

१३–रवेः संक्रमणं राशौ संक्रान्तिरिति कथ्यते । स्नानदानजपश्राद्धहोमादिषु महाफला ॥ (स्कन्दपुराण नागरखण्ड)

१४–अत्र स्नानं जपो होमो देवतानां च पूजनम् । उपवासस्तथा दानमेकैकं पावनं स्मृतम् ॥ (संवर्तस्मृति)

१५–विवाहव्रतसंक्रान्तिप्रतिष्ठायां स्वजन्मसु । तथोपरागपातादौ स्नाने दाने निशा शुभा ॥ (विष्णु)

१६–ग्रहणोद्वाहसंक्रान्तियात्रातिप्रसवेषु च । श्रवणे चेतिहासस्य रात्रौ दानं प्रशस्यते ॥ (सुमन्तु)

१७–रविसंक्रमणे प्राप्ते न स्नायाद् यस्तु मानवः । चिरकालिकः सरोगी स्यान्निर्धनश्चैव जायते ॥ (शातातप)

१८–अयने विषुवे चैव त्रिरात्रोपोषितो नरः । (वृद्धवसिष्ठ)

१९–अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः । अहोरात्रोषितः स्नातः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ (आपस्तम्ब)

२०–आदित्येऽहनि संक्रान्तौ ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः । उपवासो न कर्तव्यो गृहिणा पुत्रिणा तथा ॥ (नारद)

अमृत-बिन्दु

श्रीभगवान्‌में परमश्रद्धा, परमप्रेम, उनसे मिलनेकी तीव्र उत्कण्ठा और साधनकी लगन—इन चारोंमेंसे एक भी हो जाय तो भगवान् मिल सकते हैं।

* * * *

ज्ञानकी साधना सरल होनेपर भी देहाभिमानके कारण कठिन लगती है। अतः देहाभिमान मिटानेके लिये दूसरोंकी निःस्वार्थ सेवा करें तथा अपनी सुख-सुविधाओंका हृदयसे त्याग करें।

* * * *

जो अपनेको बड़ा मानकर दूसरोंको दबाता है, उसमें ईश्वर-तत्त्व समझनेकी क्षमता नहीं है। वस्तुतः सभी जीव समान हैं और प्रभुकी संतान हैं।

* * * *

सच्चर्चा, सच्चिन्तन और सत्कर्म करना उत्तम है; परंतु सच्चा सत्संग है—असत् (संसार) का आश्रय छोड़कर सत् (परमात्मा) को अपना मानना।

* * * *

सत्यकी दृढ़तापूर्वक पकड़से सभी दुर्गुण, दुराचार मिट सकते हैं। सत्य बोलनेमें ही नहीं, व्यवहारमें भी स्वभावतः आ जाना चाहिये।

* * * *

अपने दोषोंको बुरा समझकर उनके त्यागके उद्देश्यसे उनसे घृणा करो और भगवान्‌को एकमात्र अपना समझकर प्रेम करो।

* * * *

मानवके स्थूल शरीरसे कर्म बनते हैं। सूक्ष्म शरीरमें उन कर्मोंके संस्कार पड़ते हैं और कारण-शरीरमें कर्तापनका अभिमान होता है। अतः कर्मका बन्धन नियत है। अनासक्तिसे ही प्राणी बन्धनसे मुक्ति पा सकता है।

* * * *

वर्षोंतक पढ़ाई करनेसे जो पारमार्थिक लाभ नहीं होता, वह परस्पर थोड़े समयकी सच्चर्चासे हो सकता है।

* * * *

विषय-भोग-सेवनसे आजतक तृप्ति नहीं हुई है, तो अब दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि तृप्तिका स्थान विषय-भोग नहीं है। महाभारतमें कहा भी है कि 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।'

* * * *

जिसको अपना मान लेते हैं, उसकी स्मृति स्वतः होती है। अतः भगवान्‌को अपना मान लेना है (क्योंकि वास्तवमें दूसरे अपने नहीं हैं;) फिर तो भगवत्स्मृति निरन्तर होने लगेगी। वही वास्तविक सम्पत्ति भी है—'सम्पन्नारायणस्मृतिः।'

* * * *

जीवन्मुक्त महापुरुषमें तीन बातें अवश्य रहती हैं—(१) सत्यता, (२) समता और (३) स्वार्थ-त्याग। ये तीनों उनके जीवनके अभिन्न तत्त्व हो जाते हैं।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

अपना और पराया

'मेरी गठरीमेंसे एक साड़ी खो गयी है, साड़ी सवा सौ रुपयेकी थी।' गाँवके चबूतरेपर ४-५ व्यक्ति बैठे थे, वहाँ पहुँचकर एक कपड़े बेचनेवालेने यह बात कही। साड़ी खोनेसे कपड़े बेचनेवालेको बहुत दुःख है, ऐसा उसके चेहरेपर पड़ी हुई चिन्ता-रेखाओंसे सुस्पष्ट प्रतीत हो रहा था। उसने वही वाक्य पुनः दुहराकर अपना दुःख (असन्तोष) व्यक्त किया तो वहाँ बैठे एक वृद्धसे रहा नहीं गया। उन्होंने उस कपड़ेवालेकी ओर घूमकर कहा—

'भाई! तुमने कोई बुरा काम किया होगा, जिससे आज तुम्हारी बड़ी हानि हुई।' वृद्धके शब्द कानमें पड़ते ही कपड़ेवाला स्थिर हो गया। क्षणभर विचार करके उसने उत्तर दिया—'हाँ, बाबा! यहीं, कुछ दिनों पहले मैंने एक वृद्धाको बीस रुपयेका माल दिया था, तब वृद्धाने भूलसे मुझे तीस रुपये दे दिये थे। अनायास दस रुपये अधिक मिल गये, इससे मैं प्रसन्न हुआ था। उस समय बढ़े हुए दस रुपयोंको मुझे उस वृद्धाको लौटा देने चाहिये थे; किन्तु मैं रुपये लौटाये बिना ही कपड़ेकी गठरी बाँधकर यहाँसे चला गया था। मेरा इसपर ध्यान ही न था कि उस समय उक्त वृद्धाको कितना दुःख हुआ होगा; परंतु आज मेरी सवा सौकी साड़ी खोजानेसे उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है।'

'भले आदमी! फिर तो तुम्हें उस समय चोरी करते समय दूसरेके दुःखका विचार स्वयं ही करना चाहिये था। तुम्हें तुम्हारे कियेका दण्ड मिला है। अब आगे कभी ऐसा मत करना।' कपड़ेवालेको आत्मीयता पूर्वक अच्छी तरह समझानेका प्रयत्न करते हुए उक्त वृद्धने कहा। 'आपकी बातें मनमें पैठ गयी हैं। अब मैं कभी ऐसा नहीं करूँगा। अपने दुःखके कारण आज मुझे दूसरेके दुःखका अनुभव हुआ है।' कपड़ेवालेने कहा।

'तब तो ठीक है। इससे तुम्हारी आत्मशुद्धि हो सकती है', जैसे अन्तिम आश्वासन देते हों, इस भावसे वृद्धने कहा।

तत्पश्चात् अपने कियेपर अनुताप तथा भविष्यमें ऐसा फिर कभी न करनेका मन-ही-मन संकल्प लेता हुआ एवं वृद्धसे प्राप्त हुई नवीन दृष्टिसे संतोष अनुभव करता हुआ-सा वह कपड़ा बेचनेवाला दूसरे गाँव चला गया।

—रमणीकलाल धी० ठाकर (अखण्ड आनन्द)

(२)

गरीबकी ईमानदारी

दिल्ली, बम्बईकी तरह कलकत्ता भी चोरी-डकैती तथा अन्य पापाचारोंके लिये बदनाम है, पर जैसा कि प्राचीनकालसे सुनते आ रहे हैं, आजकी दुनियामें भी कुछ सज्जन तथा ईमानदार व्यक्ति भी हैं, जो कभी संयोगसे ही मिल जाते हैं। इस बातकी पुष्टि अपने एक परिचितसे सुनी हुई इस घटनासे होती है। उनके अनुसार गतवर्ष अक्टूबर १९७८में एक दिन उक्त सज्जनके एक मित्र कलकत्ताके न्यू-मार्केटमें सामान खरीदने गये, पर गाड़ी रखनेकी जगह न मिलनेपर पासमें मिर्जा गालिब स्ट्रीटपर, जहाँ बाजारका कूड़ा डालनेका स्थान है और जहाँ कूड़ा चुननेवाले भिखारी प्रायः हर समय बैठे रहते हैं, एक ओर गाड़ी खड़ी करके बाजारमें सामान खरीदने चले गये। सामान खरीदनेके समय जब उन्होंने देखा कि उनकी जेबमें रुपयोंका पर्स नहीं है तो वे कुछ विचलित-से हुए। उन्होंने सोचा कि रास्तेमें कोई ऐसी भीड़ भी नहीं थी, न कोई व्यक्ति इतने पाससे ही निकला था कि पाकेट-मारी हो गयी हो। वे लौटकर अपनी गाड़ीके पास आये और अपना मनीबैग खोजने लगे।

वे मनीबैग खोज ही रहे थे कि कूड़ेके ढेरपरसे उठकर एक व्यक्ति उनके पास आया और बोला—'बाबूजी!

आप जो मनीबैग खोज रहे हैं, वह शायद यही है। इसमें ५००-००रुपयेके नोट हैं। आप गाड़ीसे उतरकर जब खिड़कीके शीशे बन्द कर रहे थे, तभी यह नीचे गिरा जान पड़ता है। बिना मेहनतकी कमाईके मुझे मिला तो इन रुपयोंको खर्च करनेकी मेरे लिये समस्या हो गयी। आप आ गये, इसे आपको सौंपकर मैं अब एक प्रकारके भारसे मुक्त हो गया हूँ।'

उन्होंने बताया कि 'इस प्रकार सुरक्षित पर्स प्राप्त करके मेरे उन मित्रकी खुशीका ठिकाना न रहा। भौतिक साधनोंसे दरिद्र, किंतु नैतिक मूल्योंसे धनी तथा ईमानदार उस व्यक्तिका वे मुँह देखते ही रह गये।' इनामके तौरपर उन्होंने उसे दस-बीस रुपये देने चाहे, पर उसने नहीं लिये। उसने कहा—'आप मिल गये, मैंने पर्स आपको सौंप दिया और चिन्तासे मुक्त हो गया। इससे मुझे जो संतोष मिला बस, यही मेरा सबसे बड़ा इनाम है।' उसने आगे कहा—'मैं तो बरसोंसे दिनभर मेहनत करके इन कूड़ेके ढेरोंसे ही इतनी चीजें निकाल लेता हूँ कि जिन्हें बेचनेसे मेरा सारा खर्च आरामसे चल जाता है। आपके रुपये लेकर मैं क्या करूँगा ? इसके लिये मुझे क्षमा करें।'

यह सब सुनकर मन अभिभूत हो उठा और विचार आया कि आजके युगमें गुदड़ीमें छिपे हुए नैतिक मूल्यके ऐसे लाल इस प्रकार संयोगसे ही कहीं मिल जाते हैं। नैतिकताका कैसा ज्वलन्त उदाहरण है यह।

—धर्मचन्द सरावगी

(३)

'संकट तें हनुमान छुड़ावै'

घटना २१ जुलाई, १९७८ शुक्रवारकी है। इस वर्ष राजस्थानके झुँझनू जिलेके शेखावाटी मार्गमें जो अर्द्ध रेगिस्तानी भाग समझा जाता है, अतिवृष्टिसे भयंकर जन-धनकी हानि हुई। मैं कार्यवश कोटासे जयपुर गया हुआ था और वहाँ राजस्थान-वित्तनिगममें कार्य समाप्त होनेपर मनमें श्रद्धा हुई कि कल पूर्णिमा है, सालासरजी चलकर संकटमोचन हनुमानजीके मङ्गलमय दर्शनोंका आनन्द प्राप्त किया जावे। इस निश्चयके अनुसार मैं शामको सालासरजी जानेवाली बसमें बैठ गया और रात्रिमें ९ बजे वहाँ पहुँच गया। रात्रिमें भगवान् संकटमोचनके शयनकी आरतीके दर्शन कर अति आनन्द प्राप्त किया। रात्रिभर जागरण और कीर्तनमें भाग लिया।

प्रातः स्नान करके प्रातःकालकी मङ्गल-आरतीके पुनः दर्शन किये और वापस जयपुर जानेको बसमें बैठा। रातभर मूसलाधार वृष्टि होती रही और सुबह भी हो रही थी। मार्गमें सर्वत्र पानी-ही-पानी भरा था। सीकर पहुँचनेपर ज्ञात हुआ कि जयपुरकी तरफ जानेवाली तमाम रेल-गाड़ियाँ, स्थगित हो गयी हैं। कारण, रेल-मार्ग कई जगह क्षतिग्रस्त हो गया है। सड़कोंके जगह-जगहसे टूट जानेके कारण जयपुरकी ओर बसें भी न जायँगी। अब मैं दोपहरमें दो बजे सीकरसे चूरू जानेवाली गाड़ीमें सवार हो गया; क्योंकि मार्गमें मेरा निवासस्थान बिसाऊ था। वह गाड़ी संध्याके ५ बजे बिसाऊ पहुँचनी चाहिये थी, परंतु उस दिन वह रातको साढ़े ग्यारह बजे पहुँची। बरसात चालू थी। बिसाऊ स्टेशनपर मैं केवल एक ही यात्री उतरा था। कोई सवारी (वाहन आदि) भी स्टेशनपर नहीं आयी थी, क्योंकि मार्गमें जगह-जगह पानी बह रहा था। स्टेशनमास्टर, जो सज्जनताकी प्रतिमूर्ति थे, विनम्रतापूर्वक बोले—'आप रात यहीं बितायें, प्रातः कोई सवारी आ जायगी।' उन्होंने अपने विशेष कक्षमें मेरे लिये एक आरामकुर्सी और एक छोटी कुर्सी पाँव फैलानेको लगा दी। स्टेशनके भवनका बाकी समस्त भाग पानीके कारण चू रहा था। मैंने संकटमोचनका स्मरण किया और लेट गया; परंतु रातभर नींद न आयी; कभी-कभी थोड़ी ऊँघाई आ जाती थी। बीच-बीचमें जब कभी जागता, तभी हनुमान्‌जीका ध्यान-स्मरण करता हुआ समय काटने लगता था। रात्रिभर एकाधिक बार सालासरजीके (संकटमोचन) हनुमान्‌जीकी मूर्ति साक्षात् रूपमें दिखायी देती रही,

जैसे वे यहाँ स्वयं पहरेपर खड़े हों। मैंने मनमें विचार किया कि चूँकि मैं कष्टमें हूँ और आज ही निष्ठापूर्वक दर्शन करके आया हूँ; अतः मस्तिष्कमें वही व्याप्त हो रहा है। प्रातः ६ बजे स्टेशनमास्टर आये। तो उन्होंने मुझे नींदकी मामूली झपकीसे उठाया और बोले—'छः बज गये। एक सवारी भी नगरसे आयी है। वर्षा तो हो ही रही है—ऐसे दुर्दिनमें आप यात्रा न करें और घर चले जायँ तो ठीक है।'

उस दिन समस्त गाड़ियाँ बंद हो गयी थीं। परिस्थितिपर विचार करता हुआ मैं जैसे ही आरामकुर्सीसे उठकर दो कदम ही आगे आया कि ऊपरसे छतका अधिकांश भागका मलबा, जो कुर्सीके ठीक ऊपर था, अचानक धड़ामकी आवाजसे उसी कुर्सीके ऊपर गिरा, जिसपर मैं रातभर लेटा हुआ था। स्टेशनमास्टर स्तम्भित रह गये। मुझे तो रोमाञ्च हो आया; परंतु मेरे मुखसे अनायास ही निकल गया कि 'जब संकटमोचन रातभर मेरी रक्षा करते रहे हैं, तो फिर मुझे चोट कैसे लगती।'

इस घटनाने मेरे जीवनको एक नयी दिशा प्रदान की है। आज जब भी मैं किसी भी तरहके संकटका अनुभव करता हूँ तो तुरंत ही निष्ठापूर्वक संकटमोचन सालासरजीके हनुमान्‌जीका स्मरण अवश्य कर लिया करता हूँ। फलस्वरूप मेरी विघ्न-बाधाएँ तो दूर होती ही हैं, साथ ही मैं बड़े अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव भी करता हूँ। सारांश, ईश्वरीयशक्ति हमेशा हमारी रक्षाके लिये तत्पर है। बस, हमारे हृदयमें केवल सच्ची निष्ठा होनी चाहिये।　　—दुर्गाप्रसाद दाधीच

(४)

'भव भेषज रघुनाथ जसु'

घटना १९ जुलाई १९७८से १५ अगस्त ७८के मध्यकी है। मैं उच्च रक्तचापके असाध्य रोगसे पीड़ित था। उपरोक्त अवधिके मध्यतक मेरा यह रोग चरम सीमापर पहुँच गया था। भीलवाड़ा नगरके सम्मान्य चिकित्सकों, वैद्योंका उपचार कराया गया, अनेक ओषधियाँ सेवन कीं, लेकिन कोई सुधार न हुआ। स्वास्थ्यमें निरन्तर गिरावट ही आती रही। यहाँतक कि अब रोग-शय्यासे उठना भी दूभर प्रतीत होने लगा। फिर भी कृपालु भगवान् (श्रीराम) की असीम अनुकम्पासे येन-केन-प्रकारेण नित्य-कर्म तथा स्नानादिसे निवृत्त होकर नियमित पूजन एवं हवन आदि तो कर ही लिया करता था। रक्तचाप तथा मस्तिष्कके चक्करोंके कारण चिकित्सकोंकी सम्मतिके अनुसार पढ़ना-लिखना आदि सब बंद था, यहाँतक कि बोलनेकी अनुमति भी नहीं थी।

दिनाङ्क २४ जुलाई १९७८को भगवन्नाम-कीर्तन (जो कि प्रतिमाहकी २४ तारीखको मेरी पूज्या, स्वर्गीया माँकी स्मृतिमें घरपर नियमित हुआ करता है—वह) रात्रिके एक बजेतक हुआ। इसके पश्चात् मैंने विश्राम करना उचित समझा; परंतु मस्तिष्कके चक्कर और अनिद्राके रोगके कारण मैं विश्राम न कर सका। हृदयकी तीव्र धड़कन तथा घबराहटसे मैं अपने शरीरको एक क्षणके लिये भी सँभाल नहीं पा रहा था। अपनी इस अस्वस्थताके पूर्व मैं नियमसे श्रीरामचरितमानसके बालकाण्डका पाठ किया करता था; परंतु रक्तचाप तथा चक्करोंके फलस्वरूप अब (चिकित्सकोंके निर्देशानुसार) एकदम बंद कर देना पड़ा था। उस रातको मैं बहुत तीव्र घबराहटका अनुभव कर रहा था। मुझे लगा कि यह प्राण-त्याग-पीड़ा है। अन्तमें अत्यन्त निराश हो, घरके लोगोंसे छिपाकर तथा चिकित्सकोंके आदेशोंकी अवहेलना करते हुए रात्रिके लगभग २ बजेके बाद मैंने श्रीरामचरितमानसका पाठ प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि चक्कर आ रहे थे, शरीरकी निर्बलताके कारण नेत्र एक स्थानपर स्थिर नहीं हो पाते थे, फिर भी मैंने पाठ जारी रखा। ओषधियोंके उपचारसे ऊबकर मैं ऐसा करनेको बाध्य हो गया था, इसलिये सभी आश्रयोंको छोड़कर मात्र 'भव भेषज रघुनाथ जसु' श्रीरामचरितमानसरूपी महौषधि-सेवनका आश्रय ले लेना ही अब मैंने उचित समझा; क्योंकि—'रघुपति भगति सजीवन मूरी' कहा गया है।

जब भगवान्‌के गुणानुवादमात्रमें भीषण 'भवरोग'से मुक्ति दिलानेकी शक्ति है तो फिर उनके पावन चरित्रका आश्रय लेनेपर शारीरिक व्याधियोंसे छुटकारा मिल जाना कौन बड़ी बात है ? ऐसा विचारकर, निश्चय पूर्वक मैं उस रात रामचरितमानसका पाठ करने बैठा। पाठ करनेमें मैं ऐसा तल्लीन हुआ कि कुछ पता ही न चला कि प्रातःकाल कब हो गया। भगवान् श्रीरामकी अपूर्व, असीम व अगोचर अनुकम्पासे मैं निरन्तर पाठ करता जा रहा था। उस दिनसे आजतक प्रतिदिन मैं नियमित मानस-पाठ कर रहा हूँ और विना किसी ओषधि-सेवनके ही श्रीरामकृपासे अब अपनेमें स्वस्थताका अनुभव भी कर रहा हूँ। मुझे विश्वास है कि प्रभुकृपासे मेरी इस शारीरिक व्याधिका निश्चित रूपसे उन्मूलन होकर मैं शीघ्र ही पूर्ण स्वस्थ हो जाऊँगा। इस प्रकार यह मेरा स्वानुभव है कि परम पवित्र श्रीरामचरितमानसका आश्रय मानसिक तथा शारीरिक व्याधियोंके शमनका एक उत्तम तथा सुगम आधार है।

—भँवरलाल पाराशर

कल्याणके आगामी ५४ वें वर्ष (सन् १९८०) के विशेषाङ्क 'निष्काम कर्मयोगाङ्क'की प्रस्तावित विषय-सूची

पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि 'कल्याण'ने अपने आगामी ५४ वें वर्ष (सन् १९८०)के विशेषाङ्कके रूपमें 'निष्काम कर्मयोगाङ्क' प्रकाशित करनेका निर्णय किया है। प्रायः कोई भी शरीरधारी प्राणी विना कर्म किये तो एक क्षण भी नहीं रह सकता,—

'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (गीता ३ । ५)

—ऐसी अवस्थामें कर्मबन्धनसे छुटकारा कैसे प्राप्त हो, यह विचारणीय हो जाता है। अपने आर्ष शास्त्रों एवं श्रीमद्भगवद्गीतामें इसके लिये सरल उपायके रूपमें निष्कामकर्मका प्रतिपादन किया गया है। गीताप्रेसद्वारा प्रारम्भसे ही इसका प्रचार-प्रसार होता रहा है, अतः इस वर्ष इस विशेषाङ्कके द्वारा पाठक-पाठिकाओंकी सेवा करनेका विचार किया गया है। इस अङ्कमें कर्मयोगकी विशद विवेचना तथा निष्काम कर्मके सभी पहलुओंपर विद्वानोंद्वारा विचार प्रस्तुत किया जा सकेगा।

पूज्य आचार्यों, संत-महात्माओं, मान्य मनीषियों तथा समादरणीय अधिकारी विद्वज्जनोंसे सादर अनुरोध है कि वे पूर्ववत् कृपाकर विशेषाङ्कसे सम्बन्धित विषयोंपर सरल भाषामें अपनी संक्षिप्त एवं सारगर्भित रचना यथाशीघ्र प्रेषित करनेकी कृपा करें।

—मोतीलाल जालान
सम्पादक

विषय-सूची—

१–निष्काम कर्मयोग क्या है ? (कर्मयोगका परिचय)
२–निष्काम कर्मयोग–एक अध्ययन—(कर्मयोगकी व्याख्या और स्वरूप आदि)
३–वैदिक वाङ्मयमें कर्मयोगके मूल तत्त्व
४–उपनिषदोंमें कर्मयोगके मौलिक स्रोत
५–आरण्यक और ब्राह्मणग्रन्थोंमें कर्मयोगके आधार
६–श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रोंमें कर्मयोगके तत्त्व
७–स्मृतियों एवं धर्मसूत्रोंमें कर्मयोगके तत्त्व-विवेचन
८–षड्दर्शनोंमें कर्मयोगके सिद्धान्त (पृथक्-पृथक् विवेचन)
९–तत्त्वज्ञान और निष्काम कर्मयोग
१०–गीतामें निष्काम कर्मयोग
११–पुराणोंमें निष्काम कर्मयोगके प्रतिपादक प्रसङ्ग और विवेचन

दुःखोंके कारण और उनके संतरणका उपाय

[भगवान् वेदव्यासका तात्त्विक उपदेश]

व्यास उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते । अहो दुःखमिति ध्यायन् दुःखस्यापचितिं चरेत् ॥
आत्मापि चायं न मम सर्वापि पृथिवी मम । यथा मम तथान्येषामिति पश्यन्न मुह्यति ॥
शोकस्थानसहस्राणि हर्षस्थानशतानि च । दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥
एवमेतानि कालेन प्रियद्वेष्याणि भागशः । जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥
दुःखमेवास्ति न सुखं तस्मात् तदुपलभ्यते । तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ॥
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् । न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ॥
सुखमेव हि दुःखान्तं कदाचिद् दुःखतः सुखम् । तस्मादेतद् द्वयं जह्याद् य इच्छेच्छाश्वतं सुखम् ॥
सुखान्तप्रभवं दुःखं दुःखान्तप्रभवं सुखम् । यन्निमित्तो भवेच्छोकस्तापो वा भृशदारुणः ॥
आयासो वापि यन्मूलस्तदेकाङ्गमपि त्यजेत् ।
सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम् । प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥
ईषदप्यङ्ग दाराणां पुत्राणां वा चराप्रियम् । ततो ज्ञास्यसि कः कस्य केन वा कथमेव च ॥
ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः । त एव सुखमेधन्ते मध्यमः क्लिश्यते जनः ॥

(भगवान् व्यासदेव युधिष्ठिरसे कहते हैं—) 'धनके नष्ट होनेपर अथवा स्त्री, पुत्र या पिताकी मृत्यु होनेपर मनुष्य 'हाय ! मुझपर बड़ा भारी दुःख आ पड़ा' इस प्रकार चिन्ता करते हुए उस दुःखकी निवृत्तिकी (असफल) चेष्टा करता है । 'यह शरीर भी अपना नहीं और सारी पृथ्वी भी अपनी नहीं है । यह जिस तरहसे मेरी है, उसी तरह दूसरोंकी भी है'—ऐसी दृष्टि रखनेवाला पुरुष कभी मोहमें नहीं फँसता । शोकके सहस्रों स्थान हैं, हर्षके भी सैकड़ों अवसर हैं । पर वे प्रतिदिन मूढ़ मनुष्यपर ही प्रभाव डालते हैं, विद्वान्‌पर नहीं । इस प्रकार ये प्रिय और अप्रिय भाव ही दुःख और सुख बनकर अलग-अलग सभी जीवोंको प्राप्त होते रहते हैं ।

'संसारमें केवल दुःख ही है, सुख नहीं, अतः (ठोसरूपसे) दुःख ही उपलब्ध होता है । तृष्णाजनित पीड़ासे दुःख और दुःखकी पीड़ासे सुख होता है; अर्थात् दुःखसे आर्त हुए मनुष्यको ही उसके न रहनेपर सुखकी प्रतीति होती है । सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता है । कोई भी व्यक्ति न तो सदा दुःख पाता है और न निरन्तर सुख ही प्राप्त करता है । कभी दुःखके अन्तमें सुख और कभी सुखके अन्तमें दुःख भी आता है, अतः जो नित्य सुखकी इच्छा रखता हो वह इन दोनोंका परित्याग कर दे; क्योंकि जैसे दुःख सुखके अन्तमें अवश्यम्भावी है, वैसे ही सुख भी दुःखके अन्तमें अवश्यम्भावी है । जिसके कारण शोक और बढ़ा हुआ ताप होता हो अथवा जो आयासका भी मूल कारण हो, वह अपने शरीरका भी एक अङ्ग हो तो भी उसका परित्याग कर देना चाहिये । सुख हो या दुःख, प्रिय हो अथवा अप्रिय, जब जो कुछ प्राप्त हो, उस समय उसे प्रसन्नतापूर्वक ही स्वीकार करे । अपने हृदयसे उसके सामने पराजय न स्वीकार करे' (धैर्य कदापि न छोड़े) । हे श्रेष्ठ (राजा युधिष्ठिर) ! तुम अपने प्रिय मित्र, स्त्री अथवा पुत्रोंका थोड़ा-सा भी अप्रिय तो कर दो, फिर तो स्वयं समझ जाओगे कि कौन किस हेतुसे किस तरह (तुम्हारे या) किसके साथ कितना सम्बन्ध रखता है ? संसारमें जो अत्यन्त मूर्ख हैं, अथवा जो बुद्धिसे परे पहुँचगये हैं वे ही सुखी हैं, बीचवाले लोग कष्ट ही उठाते हैं ।' (महाभा० १२ । २५ । १७-२८)